नये मान : पुराने प्रतिमान

रामेश्वर शर्मा

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय,

नागपुर

प्रकाशक :

अस्तेय प्रकाशन,

११६, धरमपेठ एक्सटेन्शन,

नागपुर — १

प्रथम संस्करण ११००]

[मूल्य [illegible]

अनुक्रम

	विषय		पृष्ठ सं०
१.	पंतजी का रजत काव्य		१
२.	कवि भवानीप्रसाद मिश्र	···	७
३.	कथाकार शेवड़े और निद्रागीत	·	१५
४.	प्रयोगवाद और नई कविता	···	२३
५.	टूटा हुआ आदमी	···	३४
६.	प्राचीन साहित्य और राष्ट्रीयकरण	···	३७
७.	पूँजीवाद, हिन्दी प्रकाशन और साहित्य	···	४४
८.	नए मान : पुराने प्रतिमान—कवि गिरिजाकुमार माथुर	···	५४
९.	प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी	···	८३
१०.	हिन्दी साहित्य में विसर्जनवाद	···	९१
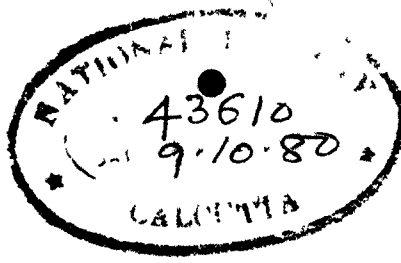
काशी के योगी

पंडित सुधाकर पाण्डेय

को सादर

निवेदन

'नए मान : पुराने प्रतिमान' मेरे नए-पुराने १० निबंधों का संग्रह है। पहिले इस संग्रह का नाम 'अमलतास' रखा गया था। किन्तु प्रकाशन-क्रम में आदरणीय बंधु श्री सुधाकर जी पाण्डेय, प्रधान मंत्री नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, डाक्टर कृष्णवल्लभ जी जोशी, आचार्य नवयुग कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय जबलपुर एवम् श्री बैजनाथ जी वर्मा, चित्रकार विश्वकोष, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के परामर्शानुसार नवीन नाम रखा गया।

ग्रन्थ को इस रूप में प्रकाशित करने में आप सभी बंधुओं के साथ श्री कृष्णचन्द्र जी बेरी, संचालक हिन्दी प्रचारक संस्थान विशेष रूप से धन्यवाद के अधिकारी हैं। लेखक आप सभी मित्रों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

११६– धर्मपेठ एक्सटेन्शन,
नागपुर।

—रामेश्वर शर्मा

पन्तजी का रजत काव्य[1]

'रजत शिखर' अस्तकालीन कवि पंत की प्रतिनिधि रचना के रूप में हमारे सम्मुख आया है। इसमें काव्य-रूपककार कवि सुमित्रानन्दन पंत के छह काव्य रूपक संगृहीत हैं। पंत का युग जो पल्लव से मर्मरित हुआ था; जो युगवाणी और ग्राम्या की जन सुरभि से सुरभित हुआ था—समाप्त हो चुका है। कालाकांकर के राजभवन का गायक अब भौतिकवाद और अध्यात्मवाद (आदर्शवाद) का समन्वय करने के लिए पुनः राज्याश्रय प्राप्त कर चुका है। वह राज्य जो कालाकांकर का नवीन संस्करण है।

'रजत शिखर' कवि के शब्दों में 'मनुष्य की अन्तश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है।' केवल 'रजत शिखर' ही नहीं, कवि के प्रस्तुत संग्रह में संकलित अन्य रूपक भी प्रतीक-पद्धति पर आधारित हैं। जैसा कि कवि को बार-बार स्पष्ट करने के लिए विवश होना पड़ा है। 'शुभ्र पुरुष' महात्माजी के तपःपूत व्यक्तित्व का शुभ्र प्रतीक है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत काव्य रूपकों में प्रतीक-पद्धति का खासा स्थान है।

पंतजी की प्रतीक-कल्पना स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि वे बाहर शुभ्रता की विराट् कल्पना करते हैं; ऊँचे-ऊँचे अत्यन्त चमकीले-भड़कीले शिखरों की कल्पना करते हैं। प्रश्न उठता है कि आखिर प्रस्तुत कल्पना के प्रेरक तत्व कौन से हैं, जिनके कारण कि सुकुमार वृद्ध कवि को इतने वैविध्य-पूर्ण, आकर्षक और चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले प्रतीकों की सृष्टि करनी पड़ती है? निश्चय ही हम जान सकते हैं कि 'रजत शिखर' की कल्पना करनेवाले व्यक्ति के अन्तश्चेतन में क्या-क्या रहस्य छिपा हुआ है :—

> यहाँ अनेले फूलों की मांसल सुगन्ध पी
> मारुत उन्मद लोटा करता हरीतिमा के
> घने उभारों में, गर्तों में इन्द्रिय मादन।
> मुग्ध स्वर्णप्रभ भृङ्ग गूँजते नीरव जग की
> कुसुम योनियाँ चूम, गंध रज गर्भदान दे।

---

१. सन् १९५२ में लिखित।

यही पुरुष रूपक के अन्त में 'रजत शिखर' की कल्पना करता है।

रूपक के प्रारम्भ में बताया गया कि वन मर्मर की एक हरी घाटी के भीतर जग-जीवन के संघर्षण से श्रांत-क्लांत एक पुरुष चिन्तनलीन है :—

> सोच रहा मैं कैसे प्राप्त करूँ महिमोज्ज्वल
> मानस की उस निभृत रुपहरी ऊँचाई को।
> जो निष्कम्प शिखा सी उठकर महानील को
> आलोकित करती अपने अंत-प्रकाश से।
> जहाँ विचरते सुरगण गोपन सुख से प्रेरित
> स्वप्न की पगध्वनियों से कंपित कर दिगंत को।"

यह युवक 'जीवन के रञ्जित कर्दम' से उठकर रजत चेतना के सोपानों पर आरोहण करता हुआ अन्तर्मन की उस प्रज्वलित भूमि तक पहुँचना चाहता है जिसके श्रांत शिखर भू का मन मोहित करते हैं।

कुछ समय पश्चात् उक्त निर्जन वन मर्मर की घाटी में एक युवती का प्रवेश होता है। अभिवादन के बाद युवक उसे 'ऋतुओं की रानी' कहकर सम्बोधित करता है। तत्पश्चात् उसे पुराने प्रणय संसार की स्मृति दिलाता है। इस 'रति वर्णन' में कवि पंत ने स्मृति संचारी का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है। गोपन वसन्त, मादन स्मृति का यह वर्णन सुखव्रत के आने तक आगे बढ़ता है। सुखव्रत का मनोविश्लेषक, रटी हुई भाषा में अवचेतन की दुर्दमनीयता पर भाषण देता है। उसका कहना है :—

> "हमें मुक्त करना है पहिले काम चेतना
> युग-युग की कृमि जटिल ग्रन्थियों से जो पीड़ित।"

उसी के स्वर में स्वर मिलाकर युवती कहती है :—

> "घोर क्रान्ति मच रही आज मानव के भीतर"

इसके बाद युवक का हृदय परिवर्तन हो जाता है। वह लज्जित होकर क्षमा याचना करता है। इसी ऊहापोह परिस्थिति में कुछ विस्थापितों का प्रवेश होता है। वे अपने ऊपर होनेवाले अमानवीय अत्याचार का वर्णन करते हैं। मनोविश्लेषक सुखव्रत उस परिस्थिति में जब कि युवती के अनुसार "कान जल रहे अब भी सुनकर कान जल रहे" उन विस्थापितों के जीवन में आए हुए सामाजिक ऊहापोह का कारण इस प्रकार बतलाते हैं :—

"सब प्रकार के सामाजिक ऊहापोहों का
... ...
... ...
विद्रोहों का एकमात्र गोपन है कारण
अवचेतन का उद्वेलन ... ... ।"

इसके बाद राजनीतिज्ञ का प्रवेश होता है जो मात्र जनसेवक बनकर अनेक बनी हुई योजनाएँ स्वीकार करा लेना चाहता है। जनता उसे अभिनेता समझती है। फिर कुछ स्वर और बाद में अनेक संयुक्त स्वर नवनिर्माण का नारा देते हैं। युवती, युवक, सुखव्रत सभी इस नवनिर्माण के रजत शिखर के बनने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार रूपक पूरा हो जाता है। 'रजत शिखर' की चेतना कांग्रेस सरकार की कथित निर्माणकारी योजनाओं की चेतना है। यह 'रजत शिखर' बड़े-बड़े (दामोदर घाटी, भाखरा नांगल, कोसी, तुङ्गभद्रा आदि) बाँधों का रेडियो मार्का साहित्यिक रूपान्तर है। पंतजी के इस 'रजत शिखर' का भविष्य हिन्दुस्तान के आज के शासक वर्ग की दिवालिया अर्थनीति से उद्‌भूत पंचवर्षीय योजना के बाँधों के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है और जिस प्रकार इन योजनाओं की पूर्ति के लिए शासकवर्ग डालर प्रभुओं के आगे हाथ पसार रहा है, उसी प्रकार पंतजी प्रभु से 'रजत शिखर' की योजना पूरी करने के लिए प्रार्थना करते हैं। शासकवर्ग के स्तुतिगान का पंतजीने यह नया रेडियोमार्का का आविष्कार किया।

'फूलों का देश' में उनका यह स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है। एक कवि के रूप में वे स्वयम् वहाँ उपस्थित हैं।

एक कवि वन में रहता है। वहाँ कुछ नर-नारियों का प्रवेश होता है। जनता उस कवि को धिक्कारती है। कवि अपनी आँखों में उन्हें भावी का स्वर्णाभ प्रतिबिम्ब देखने को कहता है। वह स्वयम् को विराट् जीवन का प्रतिनिधि बतलाता है। जनता उसे धिक्कारती हुई आदिम कहती है। और कवि कहता है: —"निःसंशय आदिम हूँ मैं" और लज्जा से गड़े हुए कवि को जनगण अवचेतन के प्रेत दिखाई देते हैं।[1]

जनता कवि को खुली चुनौती देती है:—

---

१. रजत शिखर पृष्ठ–६०

कायर हो तुम कायर को उपदेश दे रहे
भूखे नंगे लोगों को अध्यात्मवाद का
कलाकार तुम नहीं तुम्हारे दुर्बल उर में
वज्रघोष निर्घोष नहीं युग की प्रतिभा का
खौल न उठता रक्त तुम्हारा घृणा क्रोध में
शोषित पीड़ित मानवता की नग्न व्यथा पर
दया द्रवित भी नहीं दिखाई पड़ते हो तुम
जग जीवन से विरत निरत फूलों के वन में
स्वप्न लोक में रहते हो तुम आत्मतोष के।
साथ नहीं दोगे तुम जन का युग सङ्कट में
रिक्त कला सुन्दरता के थोथे आराधक
धिक तुमको, यह व्यक्ति अधम जनपद कंटक है।

किन्तु इस सबके लिए कवि का उत्तर है :—

किन्तु हाय यह रुंध अहम् दुर्गम पर्वत है।
भीतर भी है जनगण, भीतर ही जन का मन,
भीतर भी हैं सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की
भीतर भी रे मानव, भीतर ही सच्चा जग
जाति वर्ग श्रेणी में नहीं विभाजित है॥
... ... आदि।

इसके बाद जनता चली जाती है। कवि के पास एक वैज्ञानिक सिर झुकाकर आता है। दोनों पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं कि बुरा हुआ जो विज्ञान ने अपने आविष्कारों द्वारा जनता को शक्ति दे दी। प्रकृति की मूल शक्ति मनुष्य के हाथ में देकर उसे महानाश के पथ पर छोड़ दिया गया है। इसके बाद वही घिटा-मिटाया शब्दों का मुलम्मा, वाद्य संगीत, कला के आभिजात्य उपकरण और रूपक समाप्त।

अन्त के चार रूपकों में पहिला है 'उत्तरशती'; दूसरा 'शुभ्रपुरुष', तीसरा 'विद्युतवसना' और चौथा 'शरद चेतना'। उत्तरशती में कवि ने बीसवीं सदी के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के संधिकाल का वर्णन किया है तथा उत्तरार्ध में मानव के सुखपूर्वक रहने की कामना व्यक्त की है। 'शुभ्र पुरुष' गाँधीजी के व्यक्तित्व का रूपक है। 'विद्युत वसना' में स्वतन्त्रता का जय गान और फिर 'शरद चेतना'—शारदोत्सव।

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' के द्वारा कवि पन्त ने एक नया मोड़ लिया था। इसे उनके प्रशस्तिवादी समीक्षकों ने भौतिकवाद और आदर्शवाद के समन्वय का प्रयास कहा था। वस्तुतः 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाएँ किसी भी स्थिति में यह कार्य नहीं कर सकीं। इसके विपरीत यह अनुभव होता है कि पंतजी की कला चेतना एक प्रकार के घिसे-घिसाये साँचे में बुरी तरह जकड़ गई। न केवल उनकी चिन्तन प्रणाली नीरस एवं आवृत्ति-मूलक हो गई है, पर दुःख तो यह देखकर होता है कि उनकी कला का इतनी जल्दी इतना अधिक ह्रास हो गया। एक समय था जब कवि पंत के शब्द-शिल्प की हिन्दी में धाक थी। पर आज पंत की भाषा, उनका शब्द-विन्यास कुछ गिने चुने शब्दों में सीमित हो गया है। बार बार कुछ नियत शब्दों की आवृत्ति यह स्पष्ट करती है। कवि कुछ खास शब्दों का इन्द्रजाल बुना करता है। कभी कोई शब्द इधर उधर हुआ हो, पर सूत की एक ही गुण्डी से कई तरह की जालियाँ तैयार करने का अत्यन्त भोंड़ा प्रयास इन विरूपकों में मिलेगा। मर्मर, गोपन, उन्मद, स्वप्न, घाटी, मादन, प्राण-चेतना, अचेतन, सौरभ, ज्योति, स्वर्ण, रजत, मानवता, काम, कामना आदि शब्द औसत रूप से घूम-फिर कर प्रयुक्त होते हैं।

इस नीरस ऊहापोह की कलासंबंधी समीक्षा तो कोई अर्थ ही नहीं रखती। यह सारी शब्दावली तो स्वतन्त्र और अवचेतन के आसपास चक्कर लगाती रही है।

अब पंतजी के विचार पक्ष पर विचार किया जाए। पंतजी उलझन में फँसते जा रहे हैं, जिस प्रकाश और अंधकार के समझौते की बात एक मृगतृष्णा मात्र है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का कोई सामंजस्य सम्भव नहीं है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, आदर्शवाद के बाद विकसित हुआ वह दर्शन है जो आदर्शवाद के भीतर से उसके तमाम विकासशील तत्वों को ले चुका है। दुनियाँ एक रास्ते पर जा रही है उसने अपना भविष्य तय कर लिया है और कवि पंत के इस प्रकार के प्रयास आज अर्थहीन हो चुके हैं। करवट बदलती हुई मनुष्यता के पथ में आज तरह तरह के रोड़े अटकाए जा रहे हैं। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की बात इसी प्रकार की एक चीज है। वस्तुतः पंतजी के काव्य में भौतिकवाद जैसी तो कोई चीज है ही नहीं। रेडियो से ब्राडकास्ट किए गए इन रूपकों में ऐसी कोई चीज होने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती जो कथित अध्यात्मवादी सरकार के विपक्ष में हो। हाँ, सरकारी पक्ष समन्वय सिद्धान्त का नया मुलम्मा चढ़ाना ही

लेखक को इष्ट प्रतीत होता है। समन्वयवादी पंत की राजनैतिक चेतना देखिए :—

> लोक राष्ट्र भी मूल बृहद् जन साम्य योजना
> आज नवल साम्राज्यवाद को मद लिप्सा से
> बना रहे हैं सैन्य शिविर निज जनतंत्रों को
> ... ...
> ... ...
> भू व्यापी संहार, प्रलय हुंकार छेड़ने।

यह कथन अपने आप में स्पष्ट है। जो लोग (चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त) पंत को साम्राज्य विरोधी मानते हैं उन्हें कवि पत की साम्राज्यवाद की यह परिभाषा समझ लेना चाहिए कि पंत किस साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं। पंतजी उसी साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं जिसका विरोध चर्चिल, ट्रूमेन, डलेस और आइजनहोवर करते हैं।

कवि
भवानीप्रसाद मिश्र[1]

भवानीप्रसाद मिश्र आधुनिक हिन्दी के उन गिने चुने कवियों में से हैं, जिन्होंने अपने काव्य के द्वारा हिन्दी कविता की अभिव्यंजना शक्ति को अधिक प्रौढ़ एवं समृद्ध बनाया है।

सीधी और सरल बात को वक्रता और शक्ति के साथ प्रस्तुत करने की कला में वे आधुनिक हिन्दी के अन्य कवियों से आगे हैं। अपने निजी सरलपन के कारण वे ब्राउनिंग के इस कथन से प्राय: सहमत प्रतीत होते हैं कि पद्य की भाषा गद्य के अधिकाधिक निकट होनी चाहिए। जैसा कि अपने दूसरे सप्तक के वक्तव्य में उन्होंने लिखा है, 'वर्डस्वर्थ की एक बात मुझे बहुत प्रिय लगी कि कविता की भाषा यथासंभव बोलचाल के करीब हो।'' इसका कारण भी उनका सहजपन है। सहजपन ही उन्हे भाता है; 'सहज' लिखना। वे सहज भाव से कहना चाहते हैं, सहज ही उनका लक्ष्य है, दर्शन में अद्वैत, वाद में गांधी का और टेकनिक में सहज ही मेरे लक्ष्य बन जायें, ऐसी कोशिश है।

यह सहजता जो कि वे टेकनिक मे लाना चाहते हैं, वस्तुत: उनके जीवन और विचारों की प्रतिनिधि है। वे अपने विचारो में उतने ही सहज हैं, सीधे और सरल। दुरूहता और रहस्य की बाते उन्हें पसन्द नही। ऐसी बातें करके वे दूसरों के लिये उलझन भी पैदा करना नहीं चाहते; दूर की कौड़ी के लिये भी लालायित नहीं, और इसीलिये अपनी पकड़ से बाहर की बातें नहीं करते। ''मैं भगवान की बात कम करता हूँ, जब करता हूँ तो रहस्य की तरह नहीं। क्योंकि इस सिलसिले में मेरे सामने जो कुछ साफ है वह खूब साफ है, और जो साफ नहीं है, उसकी बात करने का अर्थ दूसरों के लिये एक उलझन की संभावना पैदा करने जैसा है। कदाचित् इसीलिये मैंने अपनी कविता में प्राय: वही लिखा है, जो मेरी ठीक पकड़ में आ गया है। दूर की कौड़ी लाने की महत्वाकांक्षा भी मैंने कभी नहीं की।''

आधुनिक हिन्दी कवियों में इतनी साफ दृष्टि रखनेवाले कवि अत्यन्त विरल हैं। दृष्टि पथ की स्पष्टता सदैव ही आन्तरिक निश्छलता एवं उज्ज्वलता से निर्मित होती है।

---

१. १९५२ ई० में लिखित।

नागार्जुन की भाँति ही भवानीप्रसाद की सभी कविताओं का कोई संग्रह लभ्य नहीं है, तथापि जो कविताएँ प्रकाश में आई हैं उनसे कवि को पूर्ण नहीं तो अंशतः जरूर समझा जा सकता है। चुनने के चाव, जीने की क्षमता और मरने की क्षीणता वाले कवि की वाणी के वैभव को हम अच्छी तरह "चीन्ह" सकते हैं।

आस पास झूलता हूँ
जग भर में भूलता हूँ
सिंधु के किनारे, कंकर
जैसे शिशु बीनता।
वाणी की दीनता
अपनी में चीन्हता
कंकर निराले नीले
लाल सतरंगी पीले
शिशु की सजावट अपनी
शिशु की प्रवीणता
वाणी की दीनता,
अपनी में चीन्हता।

(दूसरा सप्तक)

एक शिशु की सरलता उनकी कविता में विद्यमान है, ठीक यामिनीराय के चित्रों की तरह सवाक् और संवेदनीय। इसीलिये यामिनीराय की तरह उन्होंने भी कई जगहों पर लोक कला को अपने काव्य की आधार भूमि बनाया है।

"सन्नाटा" शीर्षक कविता में सूनेपन की भयानकता का चित्रण करने के लिये लोक गाथा का आश्रय लिया गया है, जिससे कवि का यथार्थ चित्रण और भी अधिक प्रभविष्णु बन गया है। लोक गीत के टेकनिक पर वर्षा का यह उल्लास कितना हृदयग्राही बन गया है :—

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री,
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा, री,
बादल छाए आसमान में धरती फूली री,
भरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री,
बिजली चमकी भाग सखी री दादुर बोले री,
अंध प्राण हो बही उड़े पंछी अनबोले री.

छन छन उठी हिलोर मगन मन पागल हरसा री
पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।

× × × ×

फुर फुर उठी फुहार अलक दल मोती छाए री
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री
झर झर झरना झरे आज मन प्राण सिहाए री
रात सुहागिन गात मुदित मन सावन सरसा री
पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।

(दूसरा सप्तक)

प्रस्तुत गीत में लोक संगीत पूर्ण रूप से अक्षुण्ण एवम् सुरक्षित रखते हुए भी जो चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है वह बतलाता है कि कवि जनता के निकट है और जनता की भावनाएँ, आशाएँ, संकल्प, विकल्प, हर्ष, उल्लास कितने मूर्त और मांसल रूप में कवि के सन्मुख हैं। इसीलिये कवि का यथार्थ, सामूहिक जीवन की चेतना के रस से सिक्त है। जहाँ कवि को कटु यथार्थ को व्यंजित करना होता है, वहाँ वह व्यंग का आश्रय लेता है। हावर्ड फस्ट के शब्दों में, "व्यंग यथार्थ का निकट मार्ग है"

भवानीप्रसाद की वे कविताएँ जिनके विषय, सामाजिक परिस्थितियों की विषम दर्द भरी कडुवाहट है, सहज ही व्यंग बन गई हैं। "गीत फरोश" शीर्षक कविता में व्यंग अपने तीखे रूप में उभरकर आता है। कविता का व्यंग त्रिकोणात्मक है। वस्तुत: भवानीप्रसाद व्यंगकार नहीं। "गीत फरोश" कविता में साधारण दूकानदार की तरह गीत बेचते हुए कवि की अवसरवादी प्रवृत्ति पर जहाँ एक चोट की गयी है, वहीं उसकी विवशता और सामाजिक कठोरता को भी कवि ने उभारकर प्रस्तुत किया है। जिसके कारण गीत बेचने-वाले कवि के प्रति घृणा के भाव न उभरकर एक गहरी सहानुभूति की भावना जागृत होती है। साथ ही उन सामाजिक परिस्थितियों के प्रति एक तीखी घृणा की भावना जागृत होती है, जिन्होंने विश्व की सुकुमारतम कला को निपट बाजारू वस्तु बना दिया है!

ये परिस्थितियाँ निश्चय ही वर्ग समाज की देन हैं, जिनमें स्रष्टा कलाकार अपनी कला को व्यावसायिक स्वरूप प्रदान करता है। मरणोन्मुख पूँजीवाद ने अपने संकटकाल में जिस प्रकार की कुत्सा, अश्लीलता और व्यभिचार को जन्म दिया है, उसी को लेकर वह कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी अपना

बर्बर हमला कर रहा है, और इसीलिए वाल्मीकि और वेदव्यास की परम्परा का वाहक कवि आज व्यक्तित्वहीन होकर सिने कम्पनियों में कवि सम्मेलनों में गीत बेचता भटक रहा है। 'गीत फरोश' शीर्षक कविता में कवि ने पूँजीवादी समाज व्यवस्था में कला और संस्कृति के साथ होनेवाले व्यभिचार और कलाकार के व्यक्तित्व की होनेवाली हत्या को बेनकाब कर दिया है। पूँजीवादी अर्थतंत्र में परास्त कलाकार की आत्मा चीत्कार उठती है :—

है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप
क्या करूँ मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ। हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ। (दूसरा सप्तक)

क्योंकि जब लोगों ने ईमान बेच दिये हैं (जी. लोगों ने तो बेच दिये ईमान) कवि को यह दुहरा व्यवसाय करना ही पड़ रहा है। वर्ग समाज में कला का धंधा कैसा है, देखिए : –

इन दिनों कि दुहरा है कवि धंधा,
हैं दोनों व्यस्त, कलम कंधा,
कुछ घंटे लिखने के कुछ फेरी के
जी दाम नहीं लूँगा, इस देरी के (दूसरा सप्तक)

आधुनिक युग का कवि अपनी इसी विवशता के कारण स्वयं पर विश्वास खो बैठा है। उसके प्राण निस्पन्द है, बोल अस्फुट और गान मात्र कम्पन रह गए हैं। वह स्वयं को लांछित अनुभव करता है।

स्नेहमयि, मैं आज अपने ही निकट लांछित
नहीं विश्वास आज मुझको अपनी शक्ति पर·
स्वर पर
नहीं विश्वास जी में आज कोयल की कुहू पर
री प्रकृति के शाप पर, वर पर। (संकल्प) (हंस)

"सन्नाटा" शीर्षक कविता जहाँ प्रवाह और वक्रता के कारण पाठकों को अपने में बाँध लेती है, वहीं वह कविता कवि की पारदर्शी अन्तर्दृष्टि की भी परिचायक है। प्रस्तुत कविता में कवि ने सामंतवाद के भीतर पीड़ित और बंदी नारी के हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। राजा द्वारा रानी से साँझों का लेखा माँगे जाने पर वह कहती है, 'राजा' जरा उस पागल

को बुलवा दो, मैं युगों से जाग रही हूँ, मुझे जरा बंशी बजवा कर सुलवा दो ।

"बंशी बजवा कर जरा मुझको जरा सुलवा दो ।"

सामन्तयुग की नैतिकता के बन्धनों ने नारी को इस तरह जकड़ रखा था कि उनकी पीड़ा से वह एक दिन भी चैन से नींद न ले सकी । रानी होते हुए भी बंदी नारी से वह कुछ अधिक नहीं थी । पर वह तो जैसे कुछ समय के लिए यह भूल ही गई थी कि उसके राजमहल में जेल नहीं था । इन शब्दों में तद्युगीन नारी की असहायता और विवशता की कितनी हृदयद्रावक अभि-व्यंजना हुई है । वस्तुतः रानी ने जो निर्बंःध उत्तर दिया था, वह उसकी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति को प्रकट करता है ।

पर वह राजा था कोई खेल नहीं था ।
ऐसे जवाब से उसका मेल नहीं था ।

अतः निरंकुशता के साथ रानी सूली की भेंट कर दी गई, पागल भी । कवि का सन्नाटा इसी सामन्ती नैतिकता के खोखलेपन की कहानी गुन-गुना रहा है ।

कवि की दृष्टि यथार्थ चित्रण में पूर्ण कुशल है । सतपुड़ा के घने जंगलों में यदि धँस न सके तो कवि आँखों से ही देखिए कितना सजीव चित्रण है :—

अजगरों से भरे जंगल
अगम गति से परे जंगल
सात सात पहाड़ वाले
बड़े छोटे झाड़वाले

शेरवाले बाघवाले
गरज और दहाड़ वाले
कम्प से कन-कने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल । (दूसरा सप्तक)

"बूँद टपकी एक नम से" कविता बहुत कुछ आलंकारिक ढंग की है तो "असाधारण" कविता सूक्तियों का एक गुच्छा कही जा सकती है । इन कवि-ताओं में कवि ने परम्परा का पूर्ण उपयोग किया है ।

"जेल की बरसात", "हाय रे संसार सागर", "बहिन की राखी", "दहन पर्व", "कुदाली का गीत" आदि कविताएँ वस्तु विधान और टेकनिक दोनों की ही दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं ।

'दहन पर्व' कविता में कवि की समाजसम्बन्धी चेतना पर प्रकाश पड़ता है। जिसमें कवि हर बुराई के लिये भले आदमी को भी भागीदार ठहराता है और कहता है कि चूँकि इस बुराई के आने में वह भी भागीदार रहा है, अतः अब हर एक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह इस बुराई के उन्मूलन के लिये कटिबद्ध मानवता की सहायता करे। इस पाप को जलाने के लिये आग फैल चुकी है, इससे बचने की कोशिश व्यर्थ होगी। यह हमारे पाप से फैली है, इसे पुण्य मानो। इस जलती घड़ी में हम चुप नहीं रह सकते, हमें अपना काम खोजना ही होगा। इस आग में युगों से बेबस व्यवस्था जल रही है। कवि कहता है—

आज भी ओ नेक दामन को
बचा कर चल न अपने
तू अगर झुलसा नहीं तो
सच न होंगे पुण्य सपने
विश्व-व्यापी आग का
मतलब कि मानव एक है रे।
अछूता बद की बदी से नहीं
वह जो नेक है रे।
हर बदी में नेक का हिस्सा है
मेरे नेक समझो
मौत के इस उजेले में
आदमी को एक समझो। (हंस, मई ४५)

कवि की इस जागरूकता का परिचय हमें उनकी अन्य कविताओं से भी मिलता है। मानवता के दुख से वह पीड़ित है। नाश की क्रीड़ा में सिसकता मानवता का यह चित्र देखिए ;—

चाँदनी चन्दन छिड़कती है कि तू सो भी सकेगा।
आसमाँ का क्या कि धरती देख धू धू जल रही है।
हर घड़ी जैसे कयामत के लिये ही पल रही है
चल रही है नाश की क्रीड़ा, प्रलय हुंकारता है
आज मानवता कि अपने हाथ टूटे मल रही है।
चाँदनी चंदन छिड़कती है कि तू सो भी सकेगा।।

(विशाल भारत, नवम्बर ४५)

संघर्ष निरत मनुष्यता के उज्ज्वलतम भविष्य के लिये एक महान् आस्था उनके साहित्य में हमें मिलती है। गति में, एक नए युग के सवेरे में एक असीमित विश्वास उनके पास है।

सीख रे विश्वास गति में
छोड़कर सन्देह
पथ हेरे अहेरे में
इस युग के सवेरे में। (हंस, नवम्बर ४७)

कवि की कुछ कविताओं में एक गहरा दर्द है, पीड़ा। यह वेदना छायावादी काव्य की परम्परागत वेदना से मेल रखती है, जहाँ कि यह प्रतीत होता है कि कवि के काव्य की परम्परा और प्रतिभा का संघर्ष चल रहा है। उदाहरणार्थ, "तू अपना इतिहास कहेगा" (विशाल भारत दिसम्बर ४५) तथा 'मेघदूत" (विशाल भारत जुलाई ४४) शीर्षक कविताओं में। जहाँ कवि अपने को यश से परितप्त और वेदना पाले हुए सा अभिशप्त बतलाता है व 'तू अपना कहेगा" कविता में बोलने पर बंदिश लगाता है। सूर्य के आजाने पर क्या तारों ने आँसू डाले हैं? क्या वज्राहत होकर बादलों ने बरसात नहीं की? आदि।

कवि के कथन में वक्रता है, एक अनोखापन है। वह सरल है और स्वाभाविक बात को भी इतनी विदग्धता और वैचित्र्य के साथ प्रस्तुत करता है कि सहज ही काव्य का चमत्कार कई गुना आगे बढ़ जाता है। उस समय उनकी वचन चातुरी को दाद दिये बिना नहीं रहा जाता जबकि वे बड़ी नम्रता से कहते हैं :—

ये वर्षा के अनोखे दृश्य
जिसके प्राण से प्यारे
जो चातक की तरह
तकता है बादल
घने कजरारे
जो भूखा रहके धरती चीर कर
जग को खिलाता है
जो पानी वक्त पर आये नहीं
तो तिलमिलाता है,
अगर आषाढ़ के पहिले दिवस के
इस प्रथम क्षण में
वही हलधर अधिक
आता है कालिदास से मन में
तो मुझको क्षमा कर देना। (राष्ट्र भारती)

यहाँ कवि का वैदग्ध्य और उसकी सहज नम्रता दोनों ही पाठक को मुग्ध कर लेती हैं। "टूटने का सुख" शीर्षक कविता में कवि ने बंधनों के टूटने पर सुख प्रकट किया है। इस प्रकार वे रूढ़ि की पिटी लकीर से हटते नजर आते हैं। बँधी सीढ़ियों पर चलना उन्हें पसन्द नहीं, वे तीर की तरह बढ़ना चाहते हैं। इसीलिये रूढ़ि के बन्धन टूटने पर उन्होंने उल्लास प्रकट किया है। लेकिन कवि वास्तविक स्वच्छन्दतावादी परम्परा का बड़ा साधक होता है। पिटी लकीर से हटकर वह स्वयं की राह निर्मित करता है। दूसरे शब्दों में वह स्वयं को एक अगली कड़ी बनाकर परम्परा के आगे जोड़ता है, और इस प्रकार परम्परा से हटते हुए भी उसके आगे जुड़ता है। इस प्रकार वह परम्परा को अधिक विकसित करता है।

भवानीप्रसाद अपने काव्य में सर्वाधिक मौलिक हैं। दूसरों के प्रभाव से उन्होंने कम लिया है। वे अपने इसी निजीपन के साथ हिन्दी काव्य में परम्परा के आगे कड़ी बनकर जुड़ते हैं। वस्तुतः वे परम्परा से जब हटते भी हैं तो उनमें विद्रोह की अपेक्षा सहज नम्रता ही अधिक है। उनके परम्परा से हटने में भी सृजन की नवीन परम्परा की एक सजीव चेष्टा है। तभी तो वे कहते हैं :

वही हलधर अधिक
आता है कालिदास से मन में
तो मुझको क्षमा कर देना।

एक अद्भुत आत्मविश्वास और आस्था के साथ भवानीप्रसाद का काव्य हमारे सम्मुख है। मनुष्यता का संघर्ष दिनोंदिन आगे बढ़ता जा रहा है। कवि के शब्दों में दहन का पर्व अधिकाधिक निकट आता जा रहा है और कविता की अपील अब व्यापक रूप से फैलती जा रही है। सारा दक्षिण पूर्वी एशिया इस दहन पर्व में सुलग उठा है, आदमी को एक समझने की आवाज ऊँची उठती जा रही है और लगता है जैसे कवि की आवाज हिमालय से टकरा कर हिन्दुस्तान भर में फैलकर गूंज उठी है :

मौत के इस उजाले में
आदमी को एक समझो।

कथाकार शेवड़े और निशागीत[1]

निशागीत श्री अनन्त गोपाल शेवड़े का एक प्रेमगाथात्मक उपन्यास है। आधुनिक मनोविज्ञान ने सेक्स को समस्या को व्यापक रूप से प्रभावित किया है, फलतः आज का साहित्यकार उसके विविध अंगों की विवेचना में व्यस्त है। निशागीत में सेक्स की जो समस्या है वह है शरीर और आत्मा के प्रेम और सौन्दर्य की। आत्मा का सौन्दर्य ही जीवन का वास्तविक सौन्दर्य है और उस निर्विकार सौन्दर्य का प्रेम ही शाश्वत है, चिरन्तन है, यह प्रदर्शित करना लेखक का अभीष्ट रहा है।

इस अभीष्ट की सिद्धि के लिये जिस कथानक की योजना की गई है, वह है मध्य-प्रान्त के एक जिले के डाक्टर की कहानी। कथा उसके बाल्यकाल से प्रारम्भ होती है और वृद्धावस्था तक के काल को अपने में समाहित करके चलती है।

बालक मधुसूदन की माता का देहावसान प्रसूति के अवसर पर डाक्टर की उपस्थिति के अभाववश हुआ। मृत्यु के समय उसने यह आकांक्षा व्यक्त की थी कि उसका मधु डाक्टर बने और अकाल रूप से होने वाली बाल-मृत्यु और नारी-मृत्यु को रोकने में योग दे। माता की यह अभिलाषा मधुसूदन के हृदय में एक बलवती एवं दुर्दमनीय ईप्सा बन गई। पिता ने भी अनुकूल योग दिया और एक दिन मधुसूदन एम. बी. बी. एस. की परीक्षा में डिस्टिंक्शन के साथ पास हो गया। अपने दृढ़ निश्चय को मूर्त्त रूप प्रदान करने के लिये उसने प्राइवेट रूप से प्रेक्टिस करने का निश्चय किया। इसके लिये उसे किसी योग्य लेडी डाक्टर अथवा नर्स के सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके बिना प्रसूतिग्रह का चलना पूर्णतया असम्भव था। अस्तु, उसने बम्बई के मेडिकल कालेज की एक नर्स को सहयोग के लिये पत्र लिखा। यह नर्स थी सुशीला राजेश्वर।

वह एक बाल-विधवा थी और गत सात वर्षों से बम्बई के मेडिकल कालेज के हास्पिटल में नर्स का कार्य कर रही थी। मधुसूदन का उससे कोई विशेष

---

१. सन् १९५४ में लिखित।

परिचय तो नहीं था, किन्तु एक गुजराती महिला की प्रसूति के समय वह उसके साथ थी और उसी समय वे एक दूसरे से मूक रूप से प्रभावित हुए थे।

पत्र मिलते ही सुशीला राजेश्वर ने मधुसूदन को अपनी स्वीकृति भेज दी। निश्चित योजनानुसार प्रसूतिगृह का कार्य चला और डा. मधुसूदन को आशातीत सफलता अपने कार्य में प्राप्त हुई।

इधर सुशीला और मधुसूदन परस्पर आकृष्ट हुए। मधुसूदन ने सुशीला के समक्ष विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, किन्तु स्वयं को डाक्टर की पत्नी होने के योग्य नहीं समझने के कारण सुशीला राजेश्वर ने इनकार कर दिया। साथ ही यह जानकर कि उसके तथा डाक्टर के सम्बन्धों को लेकर जन-समाज में अनेक प्रकार के लोकापवाद प्रचलित हैं, उसने डाक्टर के प्रति पूर्ण प्रेम रहते हुए भी उसके यहां से त्याग-पत्र देकर चला जाना उचित समझा।

कथन का पूर्वार्द्ध यहां समाप्त हो जाता है। इसके बाद कथा एक नवीन मोड़ लेती है। सुशीला राजेश्वर के जाने के कुछ समय बाद डाक्टर मुल्लाजी के यहां रोगी को देखने जाता है और अचानक बारूद में आग लग जाने से भारी विस्फोट होता है और उसी में डाक्टर अंधा हो जाता है। इस अवसर पर डा. वर्मा जो सदा डा. मधुसूदन के प्रतिद्वंदी थे, डा. मधुसूदन की सेवा व इलाज करते हैं, बाद में पद्मा जो सुशीला की एक मित्र थी, डा. मधुसूदन को अपने घर ले जाकर उनकी सेवा करती है। वह सुशीला को समाचार देकर बुला लेती है और कुछ समय (तीन दिन) उसे नर्स के रूप में डाक्टर की सेवा करने तथा उसके प्रति डाक्टर की मनोभावना के अध्ययन का अवसर देती है। अपने प्रति डाक्टर का प्रेम अत्यन्त निर्मल और उदात्त पाकर सुशीला वास्तविक रूप को प्रकट कर देती है। दोनों एक दूसरे के आलिंगन में बद्ध हो अद्वैत में लय हो जाते हैं।

इसके बाद डाक्टर सुशीला को लेकर अपने गांव जहां उसके पूर्वजों की जमीन है, आ जाता है। अस्पताल और मोटर तो पहिले ही बेच दिये गए थे। यहां आकर ५० एकड़ जमीन वे खरीद लेते हैं। वहीं खेत में कच्चा मकान बना कर रहते हैं। डाक्टर सलाह देते हैं, सुशीला दवा देती है खेती बाड़ी करती है, और जिन्दगी गुजारती है। इन्हीं अन्तिम दिनों, लगभग १५ वर्ष बाद, पद्मा भी, जो मरण के समीप है, वहां आती है और डाक्टर के चरणों तथा युग-दम्पत्ति के प्रेम में सदा के लिये लय हो जाती है। उस अर्घ्यदान की बेला में जीवन और मरण के बीच की रेखा कितनी धुंधली हो गई थी, इसका स्वयं उसे भान नहीं बच रहा था।

\+ \+ \+ \+

उक्त कथा-वस्तु पर विचार करने पर उसके दो भाग पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं :

(१) आरम्भ से विवाह के प्रस्ताव तक की कथा ।

(२) विस्फोट से लेकर अन्त तक की कथा ।

इन दो भागों के बीच कुछ अध्याय और हैं, जिनमें सुशीला की मानसिक उलझन, त्यागपत्र तथा डाक्टर के साथ रामेश्वर सेठ के दुर्व्यवहार और इंजीनियर की पत्नी द्वारा सान्त्वना देने की घटनाएँ वर्णित हैं । वस्तुतः इन योजक अध्यायों का कोई महत्व नहीं । प्रारम्भ से कथा-वस्तु एक तीव्र वेग से चलती है और परिणय की याचना तक आते-आते सहसा रुक जाती है । डाक्टर मधुसूदन को, जो उत्तर सुशीला राजेश्वर देती है, उससे कथावस्तु का सारा प्रवाह ही बदल जाता है । कुछ समय तक यह कथावस्तु छितराई सी रहती है और विस्फोट की घटना के बाद फिर एकाएक इसी प्रवाह में प्रवेश करती है । पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कथा में कोई सामंजस्य नहीं प्रतीत होता इसीलिए उपन्यास के उत्तरार्द्ध के कथानक मे न तो वह गति है, न रोचकता । सारे वर्णन में एक प्रकार की नीरसता मिलती है, जिससे पाठक के हृदय में परिणाम के प्रति औत्सुक्यहीनता और उदासीनता पाई जाती है । वस्तुतः कथावस्तु का छोर जिस ताकत से लेखक के हाथ में पूर्वार्द्ध में रहा, उत्तरार्द्ध में नहीं । लगता है जैसे सुशीला की अजीब उलझन में वह उस छोर को खो बैठा है । कथावस्तु को आगे बढ़ाने के लिये जिस प्रकार की अप्रत्याशित घटनाओं की योजना की गई है, उनमें किसी प्रकार की कार्य-कारण शृंखला दृष्टिगत नहीं होती । न ही यह प्रतीत होता है कि उत्तरार्द्ध की गाथा पूर्वार्द्ध की घटनाओं के कार्य का फल है । लगता है, जैसे दो पृथक् घटनाओं को एक कथानक में जोड़ने का प्रयास किया गया हो । उपन्यास की कथा सिर्फ दो व्यक्तियों को प्रेम-कथा है – उसमें अधिक प्रसार नहीं, जीवन की अनेक-रूपता का चित्रण नहीं, न ही मनुष्य और समाज की वैविध्यपूर्ण परिस्थितियों का चित्रण है । इस पर भी कथासूत्र में एक योगसूत्र का अभाव उपन्यास के कथात्मक ढाँचे को शिथिल बना देता है । वस्तुतः जिस कथावस्तु को आधार बना कर प्रस्तुत उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया गया है, वह उपन्यास की अपेक्षा एक कहानी के अधिक उपयुक्त है । क्योंकि औपन्यासिक कथानक में जिस विस्तार, वैविध्य और समग्रता की आवश्यकता रहती है उसका प्रस्तुत कथानक में पूर्ण अभाव है । अनेक घटनाओं तथा बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक के जीवन की कहानी होते हुए भी कथानक में औपन्यासिक गठन नहीं पाई जाती । प्रायः कथानक मधुसूदन और सुशीला के आस पास ही घूमता

रहता है, उसमें भी विशेषकर दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के आसपास। कथानक में कुछ ऐसे तत्वों का समावेश हो गया जो उपन्यास की अपेक्षा जीवनी के अधिक निकट हैं। किन्तु इस कारण लेखक को पात्रों के चरित्र-विश्लेषण का पर्याप्त अवसर मिला है। डा० मधुसूदन और सुशीला राजेश्वर यह दो पात्र ही उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। शेष गौण पात्र हैं—पद्मावती, चन्द्रा, डा० वर्मा आदि।

डा० मधुसूदन का बाल्यकाल से लेकर अधेड़ होने तक का चित्र हमारे समक्ष लेखक ने प्रस्तुत किया है। वह एक कर्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी एवं उदात्त भावनाओं वाला व्यक्ति है। लेखक ने स्वयं उसके व्यक्तित्व के निर्माण में कार्य करनेवाले प्रभावों की विस्तृत विवेचना की है। उसमें सेवा करने की अदम्य लालसा है। वह अपने लक्ष्य के प्रति पूर्णतः निष्ठावान् है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये वह किसी प्रकार की निन्दा की चिन्ता नहीं करता। उसके ध्येय की पूर्ति के संबन्ध में उपन्यास की शुरुवात में ही लेखक ने लिखा है—'जीवन में सभी को सफलता मिलती है, यह बात नहीं, लेकिन कम से कम डाक्टर मधुसूदन के जीवन पर दुर्भाग्य ने असफलता की छाप नहीं मारी थी, यह मानना होगा।'

लेखक के उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट झलकता है कि लेखक ने जब उपन्यास की शुरुआत की उस समय उसके मस्तिष्क में उपन्यास का जो कथानक था या डा० मधुसूदन का जो जीवन था वह एक सफल जीवन था—उसका अंत सुखपूर्ण था। सफलता उसके कण-कण में गूँथ दी गई थी। किन्तु उपन्यास समाप्त होते होते हमें श्री शेवड़ेजी का यह वाक्य पुनः पुनः स्मरण होने लगता है और उसका सत्य संदिग्ध दिखाई देता है। क्योंकि डा० मधुसूदन का जीवन असफलता की एक करुण कहानी है—जो रुलाये बिना नहीं रहती। यह आश्चर्य है कि लेखक ने क्योंकर डा० मधुसूदन के सम्बन्ध में उक्त रिमार्क पास किया है। सम्भव है, उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक के मस्तिष्क में उपन्यास के उत्तरार्द्ध में घटित होने वाली अप्रत्याशित घटनाएँ न रही हों और उनका विचार एक सुखान्त उपन्यास लिखने का रहा हो।

जिन मनोवैज्ञानिक तत्वों से मधुसूदन के चरित्र का निर्माण किया गया उनमें सबसे बड़ी चीज है—आत्मविश्वास की न्यूनता। डा० मधुसूदन में आत्मविश्वास की भारी कमी है। जिस समय वे अपनी प्रेक्टिस प्रारम्भ करते हैं—उस समय हम उन्हें उक्त मनोभावना से बुरी तरह घिरा पाते हैं। उन्हें

प्रतीत होने लगता है कि सुशीला राजेश्वर के अभाव में उनके लिए यह सम्भव नहीं कि वे प्रसूति-गृह का निर्माण कर सकें और मातृजाति की सेवा कर सकें। यही मनोभावना उनके हृदय में बार-बार उभर कर आती है। मधुसूदन के चरित्र की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसके हृदय में स्थित प्रेम की विशालता और उदात्तता है। सुशीला के प्रति उसके हृदय में जो प्रेम है वह अत्यन्त पावन, निश्छल और सरल है। वह प्रेम शरीर के बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आत्मा के निष्कलुष सौंदर्य पर आधारित है। इसीलिये सुशीला की प्रौढता और असुन्दरता उस प्रेम मे बाधक नहीं है। मधुसूदन का यह प्रेम एकांत रूप से दिव्य है। यहाँ तक कि सुशीला और मधुसूदन के प्रेम में भी हम सुशीला के प्रति मधुसूदन के हृदय में पाये जानेवाले प्रेम को ही श्रेष्ठ समझेंगे। कारण कि सुशीला का मधुसूदन के प्रति जो प्रेम था वह बहुत कुछ अपनत्व के अभाव की क्षतिपूर्ति का प्रयास-सा लगता है। उसे इस जीवन में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो उससे अपनत्व दिखाता, उससे प्रेम करता। किन्तु मधुसूदन के लिए यह बात नहीं थी। स्वयं सुशीला के शब्दों में उस पर कोई सुन्दरी अपने को न्योछावर कर सकती थी। कहना न होगा कि मधुसूदन के प्रेम के पावन स्वरूप के चित्रण में लेखक को अभूतपूर्व सफलता मिली है, वह बधाई का पात्र है।

डा० मधुसूदन अत्यन्त लगनशील है। जिस समय वह रोगी का उपचार करने में दत्तचित्त होता है उस समय उसका साधनालीन स्वरूप दर्शनीय होता है। उस समय वह स्वयं को, अपने आसपास के सारे वातावरण को भूल जाता है। मानव-समाज की सेवा में इस प्रकार तल्लीनता प्राप्त करनेवाला उसका यह स्वरूप भी कम आकर्षक और प्रेरक नहीं है। वह गरीबी के प्रति विशेष रूप से सदय है। वस्तुतः डाक्टरी उसका पेशा नहीं, वह तो सेवा के लिए ही इसे कर रहा है। उसके उस मंगलकारी स्वरूप को देख कर भी कम प्रेरणा नहीं मिलती, जब हम उसे मानापमान, विवर्जित होकर मातृजाति की सेवा में तल्लीन पाते हैं।

सुशीला राजेश्वर एक दूसरा चित्र है, जो उपन्यास पर डा० मधुसूदन की तरह ही छाया हुआ है। वह एक बाल विधवा है जिसके सिवा माता के अपना कहने को कोई व्यक्ति नहीं है। विधवा होने के बाद वह नर्स की ट्रेनिंग लेकर बम्बई के मेडिकल कालेज में नर्स हो जाती है। वहाँ उसका स्वरूप अत्यन्त गम्भीर और सेवा-परायण है। उसे गरीब श्रमिकों की चालों में मजदूरों की निःशुल्क सेवा करते हुए मधुसूदन ने देखा है। अत्यन्त अल्पायु में वैधव्य से प्रताड़ित होने के कारण उसकी सेक्स-सम्बन्धी रस-ग्रन्थियाँ अप्राकृतिक रूप से

कुचल दी गई हैं। उसे सेवा में आनन्द मिलने लगा है। कहना न होगा कि उसके हृदय की यह सेवा-परायणता उसकी सेवा भावना का उदात्तीकृत (Sublimanised) रूप था और इसीलिए अनुकूल वातावरण और अवसर को पाते ही सेक्स की मूल भावना खिल उठी, किन्तु विगत दीर्घकाल के अप्राकृतिक दमन और सामाजिक उपेक्षा ने उसके हृदय में जिस हीन भाव को जन्म दिया था उसने सेक्स की नव-विकसित भावना को अवसर की अनुकूलता के बावजूद तृप्त नहीं होने दिया। डा० मधुसूदन द्वारा सुशीला से परिणय की याचना की गई, किन्तु सुशीला ने हार्दिक इच्छा होते हुए भी इनकार कर दिया। इस अस्वीकृति के अन्दर वह अपना त्याग समझ कर गौरव और अभिमान का अनुभव करती है। 'कहीं उसने पढ़ा था त्याग ही प्रेम की कसौटी है। और वह अपने सर्वस्व सुख का त्याग करके गौरव और अभिमान भी अनुभव कर रही थी।" किन्तु यदि विश्लेषण किया जाये तो इस कथित त्याग के मूल में भी एक प्रकार का हीन भाव ही मिलेगा। वह स्वयं कहती है—"तुम मुझ प्रौढ़ा के समीप सुखी नहीं हो सकोगे। तुम्हें तो अपने रूप, गुण की युवती ही सुख दे सकेगी।" आदि यही एक प्रकार का हीन भाव है जिसके अनुसार सुशीला स्वयं को कभी डा० मधुसूदन की प्रेयसी होने के योग्य न मान सकी और सदैव तुच्छ समझती रही। इसी हीन भावना के कारण उसे स्वयं पर विश्वास नहीं। शायद यह बात कुछ आश्चर्यजनक लगे कि सुशीला, जो अपने हृदय की रग-रग से मधुसूदन को प्यार करती है, उसके प्रति अविश्वास कैसे रख सकती है। किन्तु यह सच है। पद्मा से बातचीत करती हुई वह अपने हृदय की आशंका व्यक्त करती है—'पर जब कल मेरी उम्र बढ़ेगी और डा० की कीर्ति और वैभव बढ़ेगा तब उन्हें मुझसे विवाह करके पछतावा न होगा ? यह मुझसे कभी नहीं होगा पद्मा।" आगे इसी प्रसंग में पद्मा ने जो प्रश्न सुशीला से किया वह भी मेरे कथन को पुष्ट करता है। पद्मा ने कहा—"बहन, इस तरह तुम डाक्टर का अपमान कर रही हो। इसका अर्थ यह कि डाक्टर हृदय के सौन्दर्य के बजाय शरीर के सौंदर्य को ज्यादा महत्व देते हैं। डा० मधुसूदन को देख कर तो ऐसा नहीं लगता।" पद्मा के इस कथन के उत्तर में जो स्वीकारोक्ति सुशीला के मुँह से निकलती है वह उसके चरित्र की कमजोरियों को खोल कर रख देती है :—

"मैं मानती हूँ और यह भी हो सकता है कि डाक्टर पर इस तरह आरोप करके मैं उनका अपमान भी कर रही हूँ। किन्तु भविष्य की ओर निराशा से आज का यह स्वप्न-सा अपमान ही ठीक है। पुरुष निसर्ग के खिलाफ नहीं जा सकता पद्मा। उस चिरसत्य को मद्देनजर रखकर ही हमें भविष्य के बारे में

सोचना चाहिए।" इस कथन से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सुशीला केवल डाक्टर के प्रति ही अविश्वासिनी नहीं है, वरन् समस्त पुरुष जाति के प्रति उस अविश्वास की भावना कार्य कर रही है।

सुशीला राजेश्वर इसी प्रकार की अनेक मनोवैज्ञानिक कमजोरियों से ग्रस्त है; भय, हीनता और आत्म-रक्षा की प्रवृत्तियों का एक अजीब सा गुंफन उसके व्यक्तित्व में दिखाई देता है। डाक्टर मधुसूदन के प्रति अत्यन्त उत्कट प्रेम रखने पर भी उसका प्रेम उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचता जो ऊँचाई डाक्टर मधुसूदन के प्रेम को प्राप्त है। क्योंकि सुशीला के हृदय में मधुसूदन के प्रति जो प्रेम है वह एक तो अभावजन्य है—सहज स्वाभाविक नहीं। चूँकि सुशीला एक दीर्घकाल से अपनत्व के अभाव से पीड़ित थी, अतः जब डाक्टर ने उसे अपनत्व प्रदान किया तो वह भी डाक्टर से प्रेम करने लगी। दूसरे, उसका प्रेम डाक्टर के प्रेम पर सन्देह किये बिना नहीं रहता और वह भविष्य में डाक्टर के प्रेम के कम पड़ जाने की आशंका के कारण ही विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुशीला का डाक्टर के प्रति पाया जाने वाला स्नेह, प्रेम की उदात्त भूमि तक नहीं पहुँच पाता, नीचे ही रह जाता है।

तीसरा पात्र है पद्मा। इसका पूरा परिचय हमें उपन्यास के अन्त में मिलता है। वह एक सरल स्वभाव की स्त्री थी। लेखक ने जहाँ सुशीला के चरित्र की गूढ़ता का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है वहीं उसने पद्मा के चरित्र को उतना गूढ़, रहस्यमय और अस्पष्ट रखने की चेष्टा की है। मधुसूदन और सुशीला के बाद वही हमारी सर्वाधिक परिचित पात्र है।

उपन्यास के मध्य में वह एक २२–२३ वर्ष की नव यौवन-सम्पन्न स्त्री है, जिसने अभी तक विवाह नहीं किया है। वह एक स्कूल में अध्यापिका है। उसके परिवार में उसकी माँ एवं बहिन के अतिरिक्त दो भाई और हैं। सुशीला द्वारा मधुसूदन के प्रस्ताव को अस्वीकार किये जाने पर उसे सुशीला को एक अन्तरंग और हितचिन्तक की तरह समझाते हुए पाते हैं। उसकी बातचीत से यह प्रकट होने में देर नहीं लगती कि पद्मा एक अत्यन्त विचारवान और सुलझे हुए विचारों की लड़की है। क्योंकि वह बातचीत के दौरान में सुशीला को भविष्य के जिन दुष्परिणामों से सावधान करती है। हम देखते हैं कि उसकी चेतावनी बहुत कुछ सही निकली। उसने कहा था "भविष्य की अनिश्चितता के लिए वर्तमान के निश्चित सत्य को ठुकराने चली हो, बहन जानती हो, इसका दुष्परिणाम क्या होगा?" "हाँ शायद पर, जाने क्या कीमत देनी पड़े।"

इसके बाद पद्मा को हम डा० मधुसूदन के लिए डा. वर्मा से झगड़ते हुए देखते हैं। आगे पाते हैं कि आखिर वह डाक्टर को अपने घर ले ही आती है। डाक्टर की सेवा शुश्रूषा करके अन्त में वह सुशीला और मधुसूदन को मिला देती है। इसके बाद लेखक उसे हमारी दृष्टि से हटा लेता है और हम देखते हैं कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब कि वह जीवन के अन्तिम क्षण गिन रही है उस खेत पर पहुँचती है जहाँ सुशीला और मधुसूदन अपने जीवन के अन्तिम दिन बिता रहे हैं। सुशीला और मधुसूदन के प्रेम की दिव्य झाँकी देखकर वह मंत्रमुग्ध सी, खड़ी रहती है। उसे लगता है, मानों उसने आज सब कुछ पा लिया है। लेखक के शब्दों मे— 'उस अर्घ्य-दान की बेला में जीवन और मरण की रेखा कितनी धुँधली हो गई थी, स्वयं उसे भान नही रह गया था।"

पद्मा का चरित्र निश्चय ही अनेक रहस्यमय सूत्रों से बुना गया है। उसके आजीवन अविवाहित रहने के पीछे किन बाह्य परिस्थितियो अथवा मानसिक ग्रन्थियो का आग्रह था, नही कहा जा सकता। क्या वह भी मधुसूदन को प्यार करती थी ?

डा वर्मा, सेठ रामेश्वर आदि गौण पात्र हैं, जिनके चित्रण मे लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

उपन्यास में कथनोपकथन यद्यपि न्यून है, तदपि कथा-प्रवाह को गति देने मे चरित्रो की मानसिक ग्रन्थियों को उद्घाटित करने में बहुत सहायक हुए हैं। लेखक की भाषा अत्यन्त प्रांजल, सुष्ठु और परिष्कृत है। उसमे एक अनूठी भव्यता पाई जाती है। उपन्यास की भाषा भावों को अत्यन्त प्रभविष्णुता के साथ व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता रखती है। भाषा पर तो लेखक का असीम अधिकार है। प्रवाह और चिन्तन के युग कूलो मे बहती हुई भाषा का एक उदाहरण देखिए —

' नारी पहेली तो है ही। उसका उल्लास और उदासीनता, स्मित और गम्भीरता, स्नेह और कठिनता, आत्म-समर्पण और आत्म-संयम ये सब परस्पर विरोधी भाव उसके व्यक्तित्व के अन्दर एक साथ ही छिपे हुए रहते है। किस समय कौन सा भाव सतह पर आकर अपना अस्तित्व बता जाएगा, इसका भरोसा नही, और उस भाव के पीछे कौन सी प्रेरक शक्ति है, इसका तो तनिक भी पता नही।"

भारतीय नारी के परम्परागत संस्कारों एवं पुरुष के प्रति सहज अविश्वास की भावना, आदि मूल प्रवृत्तियों पर आधारित यह उपन्यास हिन्दी को लेखक की युगान्तरकारी देन है।

प्रयोगवाद और नई कविता

प्रयोगवाद और नई कविता की चर्चा अब पीछे पड़ गई है। यह माना जाने लगा कि अब वे गए, उनका जमाना गया। युग बीत गया। समय था, जो चला गया। अब तो सिर्फ लकीर रह गई है। सम्भव है, कुछ लोग उसी को पीटते रहें। होता है ऐसा। गतानुगतिकता भी चलती है।

लेकिन प्रयोगवाद या नई कविता आ गए थे। उनका भी जमाना आया था यह निर्विवाद रूप से स्वीकार की जानेवाली चीज है। कहते हैं कि यह सिलसिला १६४३ में प्रकाशित होनेवाले तार सप्तक से शुरू हुआ था। प्रायः यही कहा गया है। इस छोर से लेकर उस छोर तक—सभी ने यही कहा है। बार-बार कहा है। इतनी बार कहा है कि वह सत्य-सा प्रतीत होने लगा है। गोयबल्स-वाली बात है कि झूठ को इतनी बार जोर देकर दुहराओ कि वह सच का विश्वास पैदा करने में कामयाब हो जाए। यही बात, करीब-करीब यही बात, प्रयोगवाद के १६४३ और तार सप्तक से प्रारम्भ होने के सम्बन्ध मे है। उसका सिलसिला तो काफी पुराना है। भारतीय साहित्य में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की पतनोन्मुख पाश्चात्य प्रवृत्तियाँ बड़े लम्बे समय से अपने लिए स्थान बनाने का उपक्रम कर रही थीं और भारतीय संस्कृति एवं साहित्य को अपने प्रभाव मे ग्रस लेना चाहती थीं। चूँकि भारत विदेशी दासता के जुए में जुता था तथा स्वाधीनता का संघर्ष प्रबल था अतः ये प्रवृत्तियाँ शासक समुदाय द्वारा यथेष्ट पुरस्कृत एवं प्रोत्साहित होने के बावजूद भी भारत में मजबूत जमीन नहीं बना सकी थीं।

हिन्दी में जिन्हें प्रयोगवाद या नयी कविता कहा गया है वह साहित्य की एक व्यक्ति-वैचित्र्यवादी प्रवृत्ति है जो स्वाधीनता के पश्चात् सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में आविर्भूत हुई। मराठी मे उसे नवकाव्य कहा गया। अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भिन्न अभिधान लेकर यह प्रवृत्ति प्रकट हुई। इस प्रवृत्ति की मूलभूत विशेषताएँ सर्वत्र समान हैं—और उसके प्रेरणा स्रोत पश्चिम के घोर व्यक्तिवादी लेखकगण—यथा इलियट, लारेंस, जायस, सार्त्र

प्रवृत्ति है। अतएव इस प्रवृत्ति को सर्वथा अज्ञात-कुलशील अथवा सहसा उदीप्त नहीं कहा जा सकता। उसकी पृष्ठभूमि में पिछली शताब्दी से अनवरत रूप से क्रियाशील वह आंग्ल प्रयत्न है जो इस विराट् भूखंड की आत्मचेतना को सर्वथा विस्मृत कर देने के लिए ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति-कला और साहित्य आदि के विविध माध्यमों से किया जा रहा था।

भारतीय स्वाधीनता का अरुणोदय राष्ट्रीयता की तेजस्वी चेतना का पर्यवसान है। सचाई तो यह है कि हमारा समूचा अस्तित्व और व्यक्तित्व ही अपना खुद का नहीं है। हम हमारे नहीं हैं। मात्र अनुकृति हैं। अनुवाद हैं। ट्रान्सलेशन। अनुवादित जीवन। अनुवादित संस्कृति। अनुवादित राष्ट्रीयता। कि हम भारत नहीं हैं। इण्डिया के अनुवाद भारत। इण्डिया—अनुवादित। पश्चिम की ढोंग भरी सभ्यता के मुर्दा आदर्शों के पीछे पागल की तरह दौड़ने-वाला विराट् मानव समुदाय—इंडिया का अनुवाद भारत। सांस्कृतिक दृष्टि से पराजित, आर्थिक दृष्टि से दुर्बल, सामरिक दृष्टि से शक्तिहीन, नैतिक दृष्टि से प्रवंचित, मानव संख्या की दृष्टि से चीन के समकक्ष। सर्वोपरि सत्य के रूप में मानव को मान्यता प्रदान करनेवाला प्रथम भूखंड। मानव की सर्वोपरि सत्यता को अस्वीकार करने वाला प्रथम भू प्रदेश।

स्वाधीनता जिसे कहा गया है, उसका आगमन ही कुछ ऐसा हुआ है। अतएव इस स्वाधीनता के शुभागमन की दो स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हुईं। प्रथम जो भारत की आत्म-चेतना के नवस्फुरण का वह संघर्ष सदा सर्वदा के लिए सुप्त हो गया, जो समग्र एशिया का नेतृत्व ग्रहण कर चुका था। दूसरे, आंग्ल पद्धति से जीवन विधि की शिक्षा ग्रहण करने के लिए हम नव दीक्षित हुए। हमारे कल तक के प्रभु हमारे आचार्य हुए। और हम पूरे उत्साह से अपने गुरुओं के खेल खेलने लगे। टेनिस में हम आगे, हाकी में नम्बर हमारा, ओलेम्पिक हमारा देवता, क्रिकेट में स्वर्ण पदक जीता। जो रह गया उसकी दौड़ में हैं। कुन्जीमेसी सीख रहे हैं।

स्वाभाविक था, और रहना चाहिए कि सर्वथा स्वाभाविक ही था कि ऐसी परिस्थितियों में उन प्रवृत्तियों को पूरी तरह खुल-खेलने का मौका मिलता जो स्वाधीनता की संघर्षपूर्ण चेतना की उग्र अभिव्यक्ति के कारण अब तक भारत में अपनी जमीन नहीं बना पाई थी। अतएव १५ अगस्त १९४७ के बाद भारत में जहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष समाप्त हुआ—उसीके साथ उसकी आत्म-चेतना का प्रकाश भी समाप्त हो गया। उसके साथ ही समाप्त हो गया राष्ट्रीय जीवन का वह तरंगाकुल-उद्वेलित-ऊर्ध्वरेतस् उत्साह जो 'शतपूर्णा-

वर्त तरंग भंग उठते पहाड़' की भाँति उभड़ रहा था। यह विडम्बना की दास्तान भाग्य है। जिसे समय आने पर सविस्तृत कहा जाएगा। यहाँ तो इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति और आवेग के कारण व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की विजातीय प्रवृत्तियों की गति अवरुद्ध रही और सन् १९४७ के बाद ही उन्हें अपना करतब करने का यथोचित अवसर मिला।

तार सप्तक, जिसका प्रकाशन १९४३ में हुआ था और जिससे प्रयोगवाद का श्रीगणेश माना जाता है—वस्तुत: प्रयोगवाद का प्रवर्त्तन करनेवाला संग्रह नहीं है। प्रयोगवाद का सिलसिला उससे जुड़ गया यह आनुषंगिक साहित्यिक घटना विधान है। और चूँकि इस तथ्य पर लेखकों की दृष्टि पहिले नहीं जा सकी अत: उस भ्रम का भी प्रचार हुआ। इस प्रचार में प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी समान रूप से भागीदार है। लेकिन तारसप्तक की वास्तविकता सिर्फ इतनी ही है कि वह व्यक्ति-वैचित्र्यवादी कविताओं का संकलन है—किन्तु प्रयोगवाद का नाम धारण करके आविर्भूत होनेवाली काव्य प्रवृत्ति का प्रवर्त्तक संकलन नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि तार सप्तक में प्रयोग की चर्चा 'वाद' रूप में नहीं है, वरन् सामान्य रूप में ही की गई है। दूसरे, 'प्रयोगवाद' इसकी तो कल्पना भी तार सप्तक में कहीं नहीं दीख पड़ती। वस्तुत: 'प्रयोगवाद' यह नाम ही तार सप्तक के संकलन-कर्त्ता किंवा सम्पादक की कल्पना न होकर तार सप्तक के समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की कल्पना है। उन्होंने सर्वप्रथम 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक एक लेख लिख कर तार-सप्तक की बखिया उधेड़ी थी। वस्तुत: पं० नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी समीक्षकों की उस पंक्ति में अग्रगण्य हैं जिन्होंने अज्ञेय के कृतित्व के जन-विरोधी एवं कुत्सित पक्ष को सर्व प्रथम पहिचाना। शेखर: एक जीवनी पर तो उनका प्रहार दुर्वार है ही; तार सप्तक पर भी उन्होंने ऐसा ही विकट प्रहार किया था और जिस प्रकार प्रहार के आवेग में गीतांजली की पद्यबद्ध अनुभूतियों को 'छायावाद' कहा जाने लगा था—इस संकलन की रचनाओं को वाजपेयी जी ने प्रयोगवादी' संज्ञा दे डाली। अतएव जहाँ तक उसके 'वादी स्वरूप' का सवाल है प्रयोगवाद का जन्म इसी क्षण से समझा जाना चाहिए।

इसके पहिले जो संकलन तैयार हुआ वह अपनी तमाम विशेषताओं के बावजूद 'प्रयोगवाद' नाम के साहित्यिक 'वाद' या विचार सरणि का प्रवर्तन के लिए किया गया उपक्रम न था। सम्भवत: यह सवाल किया जाए कि अन्तत: उस उपक्रम का अभीष्ट क्या था? और यह स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि यह संकलन भी साहित्य में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की प्रवृत्ति की ही

परिणति था—जिसमें प्रयोगों की चर्चा है, महत्व प्रतिपादन है लेकिन यह कहीं ध्वनित भी नहीं होता कि उसका अभीष्ट पृथक् 'वाद' की स्थापना किंवा प्रवर्त्तना से है।

स्वाधीनता के पश्चात् नंददुलारे जी वाजपेयी के 'आधुनिक साहित्य' का प्रकाशन हुआ। जिसमें 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक एक निबंध के अंतर्गत तार सप्तक की कविताओं को तीखी आलोचना देखने को मिलती है। फिलहाल यह कह सकना सम्भव नही कि वाजपेयी जी का उक्त निबंध इस ग्रन्थ के पूर्व किसी पत्र, पत्रिका मे भी प्रकाशित हुआ था या नहीं, तथापि यह नि.संकोच कहा जा सकता है कि वाद रूप मे प्रयोगवाद शब्द का व्यवहार करनेवाले वाजपेयी जी ही प्रथम लेखक है। स्वाधीनता के बाद साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र प्राय. इलाहाबाद से हटकर दिल्ली की ओर सिमटना प्रारम्भ होता है। दिल्ली के प्रगति प्रकाशन नामक एक प्रकाशन संस्थान की ओर से अज्ञेय के सपादन मे प्रतीक नाम का एक नया पत्र मासिक रूप से प्रकाशित होना प्रारम्भ होता है। इन्ही दिनो डाक्टर नगेन्द्र का एक निबंध संग्रह 'विचार और विवेचन' नाम से प्रकाशित होता है। इस सग्रह मे प्रयोगवाद नामक एक निबंध के अंतर्गत प्रयोग और तार सप्तक की रचनाओ की चर्चा की गई है। इस प्रकार वाद रूप मे प्रयोगवाद की चर्चा करनेवाले लेखकों में वाजपेयीजी के पश्चात् डॉ० नगेन्द्र ही आते है।

अभी तक साहित्यिक समीक्षको द्वारा तो 'वाद' रूप मे इस प्रवृत्ति की चर्चा प्रारम्भ कर दी गई थी। वाजपेयी जी ने इस प्रवृत्ति को प्रयोगवादी' अभिधान प्रदान किया था—जिसे डॉ० नगेन्द्र द्वारा भी यथावत् स्वीकार कर लिया गया। उन्होंने भी तार सप्तक की रचनाओ की विवेचना करते समय इसी अभिधान द्वारा इस प्रवृत्ति का बोध कराया था। किन्तु इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध तार सप्तक के सम्पादक श्री अज्ञेय इस समय तक खुल कर सामने नही आए थे। जब उन्होंने देखा कि हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक तार सप्तक की रचनाओं तथा रचनाशैली में एक विशेष वाद की झलक पा रहे है तो फिर उन्होने भी अवसर के अनुकूल ऐसी भूमिका ग्रहण करना उचित समझा जिसके द्वारा यह प्रवृत्ति एक वाद के रूप में साहित्य जगत् मे प्रतिष्ठित हो जाए एवं उसके प्रवर्तक के रूप में उनकी गणना की जाने लगे। एतदर्थ आवश्यक यह था कि इस प्रवृत्ति की ओर साहित्य जगत् का ध्यान आकृष्ट किया जाए तथा उसके लिए साहित्यकारों से कुछ समर्थन भी जुटाया जाए।

इस दृष्टि से आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र द्वारा आयोजित एक साहित्यिक परिसंवाद का विशेष महत्व है जो कविता और प्रयोग-शीलता जैसे किसी विषय पर आयोजित किया गया था। इस परिसंवाद में पंतजी के अतिरिक्त अज्ञेय, सुमन, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती जैसे कुछ कवियों ने भाग लिया था। प्रायः सभी ने प्रयोगशीलता का स्वागत किया। अपने काव्य की प्रयोगशीलता की बानगियाँ पेश कीं और अपने को प्रयोगों का समर्थक घोषित किया। लेकिन आकाशवाणी से प्रसारित होने से ही तो प्रचार का कार्य पूरा नहीं हो जाता। अतएव बाद में यह परिसंवाद अज्ञेय ने अपने पत्र प्रतीक में भी प्रकाशित किया ताकि वह सर्वजन-सुलभ हो सके।

इस युग की साहित्यिक स्थिति का एक संदर्भ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि यह स्वाधीनता के आगमन का काल था। हमारी स्वाधीनता के आगमन मे लगभग ५ वर्ष का समय लगा है। अर्थात् सन् १९४६ से सन् १९५२ के प्रारम्भ तक का समय। प्रथम आम निर्वाचन फरवरी १९५२ में हुए थे तथा केन्द्र मे जवाहर लाल के प्रधान मंत्रित्व में पहिली सरकार १९४६ में गठित हुई थी। सन् १९४६ तथा सन् १९५२ के बीच ही १५ अगस्त १९४७ वाली घटना भी घटित हुई थी।

देश की इस राष्ट्रीय और राजनैतिक परिस्थिति ने साहित्य के क्षेत्र को पूरी-पूरी तरह से प्रभावित किया था। स्वाभाविक था। परिस्थिति ही ऐसी थी। संघर्ष का पर्यवसान था। सत्ता के लिए तेजी से दौड़धूप जारी थी। लालसा सत्ता की दुर्लंघ्य लालसा ने अपना दिगम्बर नर्तन प्रारम्भ कर दिया था। कूटनीतिपूर्ण षड्यंत्र प्रारम्भ हो गए थे। मौलाना आजाद के अनुसार सरदार पटेल में लालसा प्रबल थी। वे कांग्रेस अध्यक्ष बनना चाहते थे। गांधी जी को उन्होंने राजी कर लिया था। लेकिन मौलाना आजाद ने जवाहर-लाल जी का नाम प्रस्तावित कर दिया। गांधी जी सुभाष से टकरा चुके थे। जवाहर लाल से टकराने की हिम्मत न हुई। लाचार थे। मजबूरी में जवाहर लाल के नाम की स्वीकृति दे दी। नेहरू गांधी के राजनैतिक उत्तराधिकारी हो गए। कांग्रेस प्रेसीडेन्ट बन गए। प्रधान मन्त्री बन गए। सन् १९४६।

सत्ता के लिए संघर्ष तो भारतीय राजनीतिज्ञों में पहिले से प्रारम्भ हो गया था—लेकिन गांधी-सुभाष संघर्ष में उसका अत्यन्त स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। वह सत्ता-संघर्ष चोटी के नेताओं में बाद में भी जारी रही। जिस समय केन्द्रीय नेतागण सत्ता संघर्ष में लगे हुए थे, उसी समय अन्य स्तरों पर

की सत्ता का यह संघर्ष प्रारम्भ हुआ। सबसे पहिले कम्युनिस्टों को कांग्रेस से बाहर निकाला गया। बाद में दमन चक्र प्रारम्भ हुआ। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस की इमारत जब्त करा दी गई। कम्युनिस्ट पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। उनके अन्य संगठनों पर भी प्रहार प्रारम्भ हो गए।

प्रगतिशील लेखक संघ नाम का एक अखिल भारतीय संगठन इन दिनों भारतीय लेखकों के प्रतिनिधि संगठन के रूप में काम कर रहा था। इस संस्था के सभापति महापण्डित राहुल सांकृत्यायन थे। इस संगठन में बड़ी संख्या में नई पुरानी पीढ़ियों के प्रायः सभी भारतीय लेखक शामिल थे। संगठन में साम्यवादी विचारधारा के लोगों का विशेष प्रभाव था। अतएव जब साम्यवादियों को कांग्रेस से निकाला गया तथा उनका दमन प्रारम्भ हुआ तो ऐसे अनेक लेखकों ने इस संगठन को छोड़ दिया जो या तो सरकारी नौकरियों में थे अथवा जो सरकारी नौकरी पाने के अभिलाषी थे।

इस प्रकार के लेखकों में श्री सुमित्रानंदनपंत नाम के एक हिन्दी कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री पंत महोदय १९२० से हिन्दी में कविता लिखते आ रहे थे। १९३० तक पहुँचते पहुँचते उन्होंने बड़ी कीर्ति कमाई थी। वे एक राजा के आश्रित थे। उस जमाने में राजे-रजवाड़ों का साहित्यिक जगत् पर बड़ा असर था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस जमाने में श्री जगन्नाथदास रत्नाकर नाम के एक बहुत ही हल्के किस्म के पुरानी चलन के साधारण कवि भी महाकवि के रूप में महज इसलिए पूजे जाते थे कि वे एक रियासत के दीवान थे। मिश्र-बन्धुओं की महिमा का भी यही रहस्य है। महावीर-प्रसाद द्विवेदी नामक उस युग के एक महत्वपूर्ण साहित्यिक भी इन राजाओं के अनुगृहीत थे। वे सरस्वती नाम की उस युग की प्रधान साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक थे। उन्होंने श्री सुमित्रानंदन पंत जी को बहुत बढ़ाया-चढ़ाया था। लिहाजा सन् १९३० में ये हिन्दी के बड़े कवि गिने जाने लगे थे। लेकिन इन्हीं दिनों एक दुर्घटना घटित हुई। बंगाल के मिदनापुर जिले में जन्मे एक नए हिन्दी कवि ने 'पंत और पल्लव' नामक एक निबन्ध लिखकर छपवा दिया। इस निबंध में पंत जी की मौलिकता पर गम्भीर रूप से विचार किया गया था। इस निबन्ध के सामने आ जाने से पंत जी का जादू लोगों पर से खत्म हो गया। तब पंत जी ने एक नया रास्ता अपनाया। 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' नामक दो कविता पुस्तकों तथा 'रूपाभ' नामक एक मासिक पत्रिका के द्वारा उन्होंने प्रगतिवादी चोला धारण किया। प्रगतिवाद के क्षेत्र में इन दिनों साहित्यज्ञान-शून्य अंग्रेजी पढ़े लिखे साम्यवादी

बाबुओं का बोलबाला था। शिवदान सिंह चौहान इन बाबुओं के मुखिया थे। उन्होंने पंत जी को प्रगतिवादी कविता का नेता बना दिया।

जब साम्यवादियों की कांग्रेस से निकालने की चर्चा शुरु हुई और सत्ता के लिए दौड़धूप तेज हो गई तब पंतजी ने भी अपनी स्थिति पर पुनर्विचार किया। जैसा कि कहा गया है कि ऐसे लोग या तो सरकारी नौकरियों में थे या सत्तापरिवर्त्तन और नव सरकार गठन की सुवर्णवेला में बहती गंगा में हाथ धो लेना चाहते थे—प्रगतिवाद और प्रगतिशील लेखक संघ से दूर हटने लगे थे। स्वनाम धन्य बाबू सुमित्रानंदनजी पंत इस प्रकार के लोगों की अगली कतार में थे। उन्होंने बहुत जल्दी ही अरविन्द की फिलासफी को आधार बनाकर स्वर्ण किरण और स्वर्ण धूलि नाम की दो कविता पुस्तकें तैयार कीं और हिन्दी साहित्य में अरविन्दवाद का नारा बुलंद किया। पंतजी को शीघ्र ऑल इंडिया रेडियो में एक ऊँचा ओहदा दे दिया गया और दूसरे हिन्दी लेखकों की नियुक्तियाँ उनकी सलाह से की जाने लगीं। नौकरी की आकांक्षा में हिन्दी लेखक बड़ी तेजी से अरविन्दवादी होने लगे।

लेकिन सरकारी नौकरियों की भी सीमा होती है। नौकरियाँ इतनी नहीं होतीं कि सभी अरविन्दवादियों को दी जा सकें। फिर यह सौदा भी जरा मँहगा ही होता है। इसके अलावा नौकरियों में लोग दूसरे तरह की सिफारिशें जुटा कर भी घुस जाते हैं। फिर डा० रामविलास शर्मा ने पंतजी पर एक बड़ा-सा लेख लिखकर उनके दर्शन और काव्य की असलियत का भंडा भी फोड़ दिया। लिहाजा अरविन्दवाद हिन्दी में अपने पैर नहीं जमा पाया।

निराश पंतजी के सामने इस समय प्रयोगवाद का समर्थन करने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया था। इस प्रकार प्रयोगवाद के प्रचार प्रसार के लिए समय एवं परिस्थिति काफी अनुकूल थी। अतएव उक्त रेडियो परिसंवाद के बहुविध प्रकाशन के द्वारा अज्ञेय ने प्रयोगवाद की उपादेयता और महत्व का यथोचित प्रचार किया। साथ ही अज्ञेय ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य इन दिनों और भी किया। तार सप्तक में सात कवियों को संग्रहीत किया गया था। उसी के आधार पर इन दिनों इतनी बड़ी भूमिका बन रही थी। इस भूमिका को पूर्णता तक पहुँचाने तथा उसका व्यापक प्रचार करने की भावना से उन्होंने एक कार्य किया। तार सप्तक की ही भाँति हिन्दी के सात नवोदित कवियों को उन्होंने चुना। फिर एक संग्रह तैयार किया। तार सप्तक की ही फैशन पर कवियों के वक्तव्य और कविताएँ भी

और एक काव्य संग्रह संपादित कर प्रकाशित कराया। विशेषता यह रही कि इस संग्रह का कोई अलग नाम नहीं रखा। वरन् उसके नाम के स्थान पर उसे 'दूसरा सप्तक' अभिधान दिया। ताकि लोग इसे तार-सप्तक के साथ आसानी से जोड़ सकें और सम्प्रति जो प्रयोगवाद का चर्चा चल रही है—उससे इसका सम्बंध जुड़ सके। इस सम्बंध को अधिक स्पष्ट करने के लिए सम्पादकीय में कुछ बातें इस ढंग से कही गई जिन से वाजपेयी जी की आलोचना की ओर इशारा हो जाता है।

इस प्रकार के साहित्यिक वातावरण में प्रयोगवाद का प्रारम्भ हुआ। अतएव उसका विधिवत् प्रारम्भ तार-सप्तक की अपेक्षा 'दूसरा सप्तक' से माना जाना अधिक समीचीन है।

जैसा कि पूर्व उल्लेख किया गया है कि वाजपेयी जी ने अपने निबंध द्वारा प्रयोग का राग अलापनेवाली इस प्रवृत्ति को प्रयोगवादी कह कर उसकी असंगतियों को स्पष्ट किया था तथा साहित्यिक स्तर पर उसकी उपादेयता को सर्वथा अस्वीकार कर दिया था। किन्तु डॉ० नगेन्द्र का निबंध एक दूसरी ही भूमिका लेकर उपस्थित हुआ था। जहाँ तक काव्य तत्व का प्रश्न है—डॉ० नगेन्द्र भी उसके काव्यत्व के प्रति संदिग्ध हो गए थे लेकिन वह उनका अभिप्रेत न था। वाजपेयी जी के निबंध की सीमा यह थी कि उन्होंने इस प्रवृत्ति की केवल साहित्यिक आधार पर नापजोख कर उसे तिरस्कृत किया था। जहाँ तक साहित्यिक मान्यताओं का प्रश्न है डॉ० नगेन्द्र भी प्रकारांतर से घूमफिर कर लगभग वही बात कहते है लेकिन उनका दृष्टि बिन्दु केवल साहित्यिक नहीं है। वह साहित्यिक से अधिक राजनैतिक है। लिहाजा वे, प्रयोगवाद की कविता कविता नहीं रह गई हैं, इस नतीजे पर पहुँचने के बावजूद भी वे उसके व्यक्तित्व को साहित्यिक मानते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि डॉ० नगेन्द्र के अनुसार प्रयोगवाद राजनैतिक सामाजिक जीवन के प्रति जागरूक है। और डा० नगेन्द्र भी राजनैतिक सामाजिक जीवन के प्रति जागरूक हैं। सम्भवत: दोनों की जागरूकता भी एक ही किस्म की थी।

यहाँ तक तो प्रयोगवाद के आगमन की चर्चा हुई। १९४३ से न सही—परवर्त्ती घटना विधान सही। उससे क्या फर्क पड़ता है? प्रश्न तो यह है कि वह इतने जल्दी बिदा क्यों हो गया? और कैसे हो गया? जब कि वह उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था—क्या कारण है कि उसका बिस्तर बंध गया? १९५४ से 'नई कविता' की कहानी प्रारम्भ हो जाती है—जो अपने को

प्रयोगवाद से भिन्न बतलाती हुई आई थी। आखिर प्रयोगवाद इतनी जल्दी प्रस्थान कैसे कर गया? नयी कविता कैसे निकल आई? उसकी प्रेरणा क्या है? उसकी साहित्यिक पृष्ठभूमि क्या है? यह प्रश्न उस स्थिति में विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है जबकि अनेक विचारकों को प्रयोगवाद और नई कविता में विशेष फर्क भी नजर नहीं आया। सम्भव है वह फर्क हो।

इस सारे संदर्भ में साहित्यिक इतिहास का वह घटनाविधान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो इस युग की परिस्थितियों में निर्मित हुआ था। यदि हम यह स्मरण रख सकें कि प्रयोगवाद के तात्कालिक उत्कर्ष के पीछे प्रगतिशील लेखक संघ के विघटन की प्रक्रिया कार्य कर रही थी। कांग्रेसी सरकार के दमनचक्र में प्रगतिशील लेखक संघ का विघटन १९४७-४८ से ही प्रारम्भ हो गया था। एक ओर कांग्रेसी सरकार प्रगतिशील लेखकों का दमन कर रही थी। उनकी गिरफ्तारियाँ कर रही थी या उन्हें चुन-चुनकर नौकरियों से अलग कर रही थी—दूसरी ओर प्रयोगवाद उन्हें प्रयोगवादी बनाकर साहित्य में प्रतिष्ठित कर रहा था। हिन्दी साहित्य को अज्ञेय और उनकी प्रतिक्रियावादी विचारणा का परिचय भी न था। अनेक लेखक तो उन्हें प्रगतिवादी ही मानते थे। कारण यह कि श्री अज्ञेय का 'सरस्वती प्रेस' से सम्बन्ध रहा है। सरस्वती प्रेस और हंस ही प्रगतिवाद के इस समय तक प्रवक्ता रहे थे।

अतः प्रयोगवाद के सम्बन्ध में इस रूढ़िवादी क्षेत्र से कुछ कहा जाना सम्भव नहीं था। फलतः प्रयोगवाद अपनी भूमिका बनाता चला जा रहा था। इसी अवसर पर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'प्रयोगवाद . पृष्ठभूमि और परिणति' नामक एक निबन्ध लिखकर १९५२ में साहित्य संदेश में प्रकाशित कराया। साहित्य संदेश इस समय तक सम्पूर्ण हिन्दी समीक्षा का मुखपत्र था। बाद में यह निबन्ध सरस्वती ने भी छापा। इस निबन्ध में प्रयोगवाद की राजनैतिक और सामाजिक भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डालकर उसकी प्रतिक्रियावादी विचारणा पर प्रकाश डाला गया।

प्रयोगवाद की चर्चा करनेवाला यह तीसरा निबन्ध था किन्तु उसकी सामाजिक राजनैतिक पृष्ठभूमि पर विचार करने वाला प्रथम उपक्रम।

इस निबन्ध के साथ ही प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'आलोचक अज्ञेय', 'काव्यगत सत्य और अज्ञेय', 'भाव प्रेषण की समस्या और आई. ए. रिचार्डस', दूसरा सप्तक आदि शीर्षकों से कुछ और निबन्ध लिखकर (१९५२-५३) की

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराए। इन निबन्धों में अज्ञेय तथा प्रयोगवाद की प्रतिक्रियावादी विचारणा एवं उसकी राजनैतिक, सामाजिक भूमिका पर यथोचित प्रकाश डाला गया।

इन निबन्धों के प्रकाशन से प्रयोगवाद का नवरचित व्यूह फटने लगा। प्रयोगवाद में सम्मिलित होने वाले लेखक मूलतः प्रगतिवादी ही थे। साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रति उनमें आंतरिक निष्ठा थी। फिर इसी समय आलोचना नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी श्री शिवदान सिंह चौहान के सम्पादकत्व में दिल्ली से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई। इस पत्रिका ने प्रयोगवाद को 'प्रतीकवाद त्रिशंकुओं का साहित्य अभिधान' देकर प्रयोगवाद के फटते हुए व्यूह को बिखराने में सहायता पहुँचाई। श्री गिरिजाकुमार माथुर आदि लेखकों के एतद्विषयक निबन्ध भी इस पत्रिका में प्रकाशित हुए।

प्रयोगवाद का वैशिष्ट्य ही यह था कि वह साम्यवाद की विचारणा से प्रेरित नई काव्य प्रतिभाओं को अपने जाल में फँसाता था। सामाजिक मूल्यों की ओर उन्मुख कवि को काव्य की प्रयोगशाला में बिठा देना ही स्वतंत्र संसार की रक्षा करना है, क्योंकि साम्यवाद आक्रमणशील है और काव्य तथा कवि इस आक्रमण के सर्वाधिक प्रभावशाली अस्त्र हैं।

परिणाम यह हुआ कि जो कवि प्रयोगवाद से सम्बद्ध हो गए—उनमें से अधिकांश सामान्य रूप से उसके संस्थापक श्री अज्ञेय के प्रति विमुखता का भाव प्रदर्शित करने लगे। जो अभी तक प्रयोगवाद के चंगुल में नहीं आ पाए थे वे सावधान और सतर्क हो गए। तीसरे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने एक मजेदार बात कही है। वह यह कि तीसरे सप्तक में अनेक कवियों ने उस संकलन में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। इस आत्म-स्वीकृति से भी प्रस्तुत कथन की पुष्टि हो जाती है। प्रयोगवाद तथा श्री अज्ञेय की प्रतिक्रियावादी विचारणा का परिचय मिल जाने के पश्चात् हिन्दी जगत् में उनके प्रति संकोच एवं विरक्ति का उद्रेक स्वाभाविक ही था।

संक्षेप में नई कविता की पृष्ठभूमि यही है। श्री अज्ञेय ने प्रकाशन व्यवस्था से वंचित कुछ कवियों को तारसप्तक में संकलित कर काफी नाम कमाया था। कोई गहन-गम्भीर तत्व-दर्शन वहाँ न था। स्कूलों के लड़के धोखा खाते रहें, यह बात दूसरी है। साहित्यिक इतिहास के मर्मज्ञ जानते हैं कि इन्दौर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में साहित्य परिषद् के सभापति पद से पं० रामचंद्र शुक्ल ने ऐतिहासिक भाषण दिया था। इस भाषण में उन्होंने आधुनिक यूरोपीय

साहित्य में पनप रही अनेक क्षुद्र काव्य प्रवृत्तियों का विवरण एवं परिचय दिया था तथा चेतावनी दी कि हमारे साहित्य में ये प्रवृत्तियां आज नहीं हैं तो क्या ! कल आकर पैर जमाएँगी। बिम्बवाद, संवेदनावाद आदि नाना वादों-अवादों का परिचय देते हुए उन्होंने सूर्यास्त (sun set) नामक मि० कमिंग्ज की एक कविता की व्याख्यात्मक आलोचना भी की थी। पश्चिम की इन क्षुद्र और घृणित प्रवृत्तियों का यह परिचय शुक्लजी ने हिन्दी जगत को इसलिए दिया था कि उनसे सावधान रहा जाय।

निश्चय ही श्री अज्ञेय ने इस भाषण को पढ़ा होगा। इस भाषण में साधारणीकरण की जो किंचित् चर्चा है वह भी पढ़ी होगी। प्रयोगवाद की असली प्रेरणा यही है। श्री पंत के काव्य में तो उस भाषण की प्रेरणा युगवाणी में साफ ही दिखती है। शुक्लजी ने कहा था कि यदि रविबाबू अनन्त का ओर ताका करें तो यह आवश्यक नहीं कि सबकी टकटकी उधर ही लग जाए। बस फिर क्या था। उसका काव्यानुवाद युगवाणी में आ गया— "ताक रहे हो गगन, शून्य नीलिका गहन" आदि। ये सब जरा गम्भीरता से विचार करने की चीजें हैं।

काव्य की अन्यान्य प्रेरणाओं में यशाकांक्षा भी एक है। फिर यश प्राप्ति के अनन्तर अर्थलाभ की भी सम्भावना रहती है। अतः नवयुवक शीघ्र ही नाम कमाना चाहते है। और इसके लिए तत्समप्रधान भाषा में कुछ सिद्धांत लिखने लगते हैं। बहुत से नवयुवकों का तो यह हाल है कि वे स्वयम् यह नहीं जानते कि वे क्या लिख रहे हैं। जो शब्द आ गया — लिख गया। नई कविता की आलोचना और सिद्धांत निरूपण करनेवाली भाषा भी ऐसी ही है।

हिन्दी प्रकाशन उद्योग में काफी पूँजी आ गई है। काफी मुद्रणालय कायम हो गए हैं। कागज का उत्पादन भी बढ़ गया है। कवियों और साहित्यकारों की संख्या-वृद्धि भी अस्वाभाविक नहीं है। देश भाषाएँ उठ कर खड़ी हुई हैं यह सब अच्छी बातें हैं। लेकिन एक बात अवश्य ध्यान रहनी चाहिए—वह यह कि साहित्य की साधना केवल चिकने कागज पर ग्रंथ प्रकाशन तथा समकालीन जीवन की सिद्धि नहीं है। वरन् वही साहित्य जीवित रहता है जो महाकाल के खर प्रवाह में पाँव टिका सकता है।

टूटा हुआ आदमी

'टूटा हुआ आदमी' श्री सिद्धनाथ कुमार का नव प्रकाशित काव्य संग्रह है। जिसमें कवि की ४२ कविताएँ संगृहीत हैं। एकाधिक कविताओं को छोड़कर सभी कविताएँ मुक्तछंद में आज की प्रयोगवादी शैली में लिखी गई रचनाएँ हैं। पुस्तक के नाम से भी उसके प्रयोगवादी होने का भ्रम पैदा होता है - लेकिन श्री सिद्धनाथ कुमार ने प्रस्तावना में कहा है :—

'टूटा हुआ आदमी' इस पुस्तक का नाम है, यद्यपि इस शीर्षक की कविता तथा पूरे संग्रह का मुख्य स्वर है—'टूटा हुआ आदमी चलता है।'

अपने प्रयोगवादी अथवा अप्रयोगवादी होने के सम्बन्ध में लेखक ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कहा है : —

"आप चाहें तो इन कविताओं को नई कविता के अन्तर्गत भी गिन सकते हैं, प्रयोगशील या प्रयोगवादी भी कह सकते हैं, लेकिन मैं अपनी बात कहूँ तो मैंने नई कविता या प्रयोग को ध्यान में रखकर इन्हें नहीं लिखा।

संग्रह की छोटी-सी भूमिका (प्राक्कथन) में कवि ने अत्यंत संक्षेप में अपनी कविता के सम्बन्ध विचार प्रकट किए हैं—जिनसे कवि की सुलझी हुई जीवन-दृष्टि का आभास मिलता है।

इन कविताओं का समग्र स्वर आशा और विश्वास का स्वर है। जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण स्वस्थ तथा प्रांजल है। 'ओ कलाकार' शीर्षक कविता में वह कलाकार को सम्बोधन कर के कहता है कि हे कलाकार, यदि तुम और कुछ नहीं कर सकते तो कम से कम स्वप्नों का निर्माण करो। लेकिन चूँकि यह कहना भी खतरे से खाली नहीं है। अतः वह कलाकार को स्पष्ट कहता है कि कहीं ऐसे स्वप्न बनाने न बैठ जाना :

जिनमें अन्तर की
दुर्बलता जागे, मुस्काए
जिनमें इच्छाओं के शव पर
बनता हो ताज महल उज्ज्वल;

अथवा जिनमें वासनाओं का नग्न नर्तन हो। वह कलाकार से ऐसे स्वप्नों को रचने का आग्रह करता है जिनकी 'रेखाओं में जीवन जाग रहा हो।'

प्रयोगवादी कवियों पर व्यंग करते हुए कवि ने 'मैं तो कवि हूँ' रचना में कहा है—

मैं तो कवि हूँ—

× ×

मेघों को नए-नए रूपों में देखता हूँ
नई-नई उपमाएँ रचता हूँ

× ×

होरी गोबर को
दीखता है सारा आकाश यदि
उजड़ा-वीरान उनके भाग्य-सा
तो मेरा क्या ?
मैं तो कवि हूँ,
मैं गाता हूँ—
श्याम कुंज में उड़ी चुनरिया
बाहर आए ना।
घिर-घिर आए बादरा।

आज के युग में पूँजीवादी समाचार-पत्रों में कवि के आत्म-प्रेरित कृतित्व के प्रकाशन के लिए स्थान नहीं रह गया है। ऐसी पत्रपत्रिकाएँ नहीं हैं जहाँ कवि स्वप्रेरित रचना को भेज कर प्रकाशित कराए। लिहाजा वे लोग जिनकी सृजनाकांक्षा किसी घनीभूत निष्ठा से प्रेरित नहीं है, जो साहित्य रचना का उद्देश्य अर्थोपार्जन मात्र मानते हैं, वे इन समाचार-पत्रों की रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार रचनाएँ लिखने लगते हैं ताकि वह प्रकाशित हो तथा उससे आर्थिक लाभ हो। 'प्रेरणा मर गई' नामक कविता में कवि ने ऐसे ही साहित्यकारों खाका खींचा है। इन कवियों की 'प्रेरणा मर गई' है। ये लोग बाजार की माँग के मुताबिक रचनाएँ लिख सकते हैं। वस्तुतः यह नए किस्म का फरमाइशी साहित्य है। पूँजीवाद के शाही दरबार में प्रवेश पाने के लिए सम्पादक रूपी सामन्त को खुश करना पहिले जरूरी है। ऐसा कवि जिसकी आत्मा मर चुकी है कहता है :

अब मैं बैठूंगा
किसी के आसरे नहीं।
लिखूंगा, खूब लिखूंगा धड़ल्ले से
कविताएँ, नाटक, कहानियाँ,
तरह-तरह की रचनाएँ,
भिन्न-भिन्न पत्रों के
आदर्श-उद्देश्य देख देख,
जिससे वे सभी कहीं
स्वीकृत-समादृत हों।

पूँजीवादी बाजार में माल बेचने वाले साहित्यकार की सबसे बड़ी बाधा आत्मप्रेरणा ही तो है क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का दर्शन है।

कविता के प्रयोगवाद नाम-धारी आंदोलन पर वज्र प्रहार करते हुए कवि ने उसकी तुलना अणुबम के प्रयोगों से की है जो सर्वथा सार्थक तथा संगत है।

वस्तुतः वह जीवन के गीत का प्रेमी है। मानवता का प्रेमी है। होरी और गोबर का प्रेमी है — इसी से वह गीत की माँग करता है।

संग्रह की अंतिम कविता 'टूटा हुआ आदमी' है। इसी कविता के नाम पर संग्रह का नामकरण किया गया है।

इस कविता में कवि मनुष्य के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए कहता है कि आदमी मशीन—और केवल मशीन नहीं है। वह अगर मशीन भी है तो उसका वैज्ञानिक भी उसी के भीतर विद्यमान है। अतः आदमी की जिजीविषा महान् है। मनुष्य उसी के सहारे चलता है :—

टूटा हुआ आदमी चलता है,
शायद इसलिए कि कहीं जाग उठे
अंतर का वैज्ञानिक
और
आदमी फिर से जुड़ जाए !

हम कवि के इस संग्रह और उसकी काव्य दृष्टि का हृदय से स्वागत करते हैं।

प्राचीन साहित्य और राष्ट्रीयकरण

साहित्य संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग ही नहीं वरन् किसी भी भूखंड अथवा जाति की सांस्कृतिक रचना में कार्य करनेवाला सर्वाधिक प्रभावशाली उपादान है। वह संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं वरन् उसका वाहक भी है। संस्कृति का निर्मायक तत्व तो है ही, उसकी शीर्ष उपलब्धि भी है। इसी कारण किसी भी जाति की राष्ट्रीय संस्कृति का स्वरूप-बोध जितनी भली-भाँति साहित्य से होता है-अन्य किसी माध्यम से नहीं। संस्कृति की भाँति वह भी राष्ट्रीय परम्परा का केन्द्रीय तत्व है।

औद्योगिक सभ्यता ने संस्कृति के रचनात्मक उपकरणों को विपुल मात्रा में प्रभावित किया है। वास्तु, शिल्प, चित्र, संगीत, शिक्षा, धर्म, दर्शन, सभी के स्वरूप थोड़ी बहुत मात्रा में प्रभावित हुए हैं। किन्तु मुद्रण यंत्र के प्रसार ने साहित्य वाङ्मय) को सर्वाधिक प्रभावित किया है। न केवल साहित्य के साम्प्रतिक रचनाक्रम को वरन् प्राचीन साहित्य के स्वरूप बोध को भी।

मुद्रण यंत्र के प्रसार का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य जाति की सहस्राब्दियों-व्यापी संचित ज्ञान राशि हमें सहज ही सुलभ हो गई है और जो नहीं हुई है-- वह भी सुलभ हो जानी चाहिए।

भारत में ऐतिहासिक उपक्रम

भारत में कम्पनी शासन के काल से ही मुद्रण यंत्र का आगमन हुआ। कलकत्ता, बम्बई आदि नगरों में कुछ मुद्रणालयों की स्थापना हुई। श्री वेंकटेश्वर एवं खड्गविलास प्रेस इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। इन्हीं दिनों आंग्ल-पंडितों के एक समुदाय ने प्राचीन भारतीय साहित्य की खोजबीन शुरू की। निश्चय ही अतीत की उपलब्धियों का अन्वेषण कर, परम्परा के स्वरूप बोध का वह ऐतिहासिक उपक्रम था। इस संदर्भ में जब भी उन विदेशी पंडितों- टॉड, टैसीटरी, ग्रियर्सन प्रभृति का स्मरण हो आता है तो हृदय श्रद्धा से अभिभूत हुए

बिना नहीं रहता। उन पंडितों का विद्याव्यसन और ज्ञान की जिज्ञासा अभिनन्दनीय, वरेण्य एवं अनुकरणीय है। उक्त पंडित वर्ग ने हमारे देश के प्राचीन साहित्य के अनेक अमूल्य रत्न खोज निकाले और उन्हें कितने अवरोधों, कठिनाइयों और असहयोग का सामना करना पड़ा होगा, इसकी सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है।

यह औद्योगिक सभ्यता का-पूंजीवाद का आरम्भिक चरण था। उसमें एक अदम्य उत्साह कार्य कर रहा था। उसका यह नवोदित एवं विकासोन्मुख स्वरूप निश्चय ही क्रांतिकारी था, लोक के मंगल-अनुष्ठान की दिशा में गतिशील था। सामन्ती संस्कार प्रति-पग पर उसका विरोध कर रहे थे। महान् भारत देश की सहस्राब्दियो द्वारा सचित विशाल ज्ञान राशि सामन्ती समाज के दो महत्वपूर्ण केन्द्रों में कैद थी। ये केन्द्र थे, सामन्तों के राजकीय पुस्तकालय और पुरोहितों के मंदिर, मठ एवं निजी ग्रंथालय। नवागत समुदाय को इसी प्राचीन समुदाय के विरोध का सामना करना पड़ा। प्राचीन समुदाय विरोध के लिए उठ खड़ा हुआ। ग्रन्थों को छिपाया जाने लगा। छपे हुए ग्रन्थों के प्रति अवमानना और तिरस्कार का भाव प्रकट किया गया। उनकी मान्यता को संदिग्ध दृष्टि से देखा गया। हद तो यहाँ तक हुई कि अर्थ लोभ एवं मुद्रित ग्रन्थों की प्रामाणिकता को संदिग्ध करने की भावना से प्रेरित होकर असली ग्रन्थ ओझल कर दिए गए। उनकी जगह नकली ग्रन्थ तैयार करके दिए जाने लगे। एक मरणोन्मुख समाज की नैतिकता कितनी विकृत और कुत्सित हो जाती है इससे उसका अनुमान भर होता है। पर इतिहास का रथ इससे रुका नहीं। प्राचीन साहित्य की खोज हुई। विपुल परिमाण में संचित इस महान् देश की ज्ञान-राशि सर्वजन-सुलभ भी हुई। निश्चयपूर्वक हम उस नवोदित एवं उस समय की विकासोन्मुख व्यवस्था के अनुगृहीत हैं जिसने इस ऐतिहासिक कार्य को सम्भावित किया है किन्तु औद्योगिक सभ्यता-जन्य यह पूंजीवादी व्यवस्था अपनी इस भूमिका का अधिक काल तक उसी रूप में निर्वाह न कर सकी। आज उसका स्वरूप सर्वथा वाणिज्यमय व्यापारपरक या एक शब्द में कहूँ कि निपट 'बाजारू' हो गया है। आज का भारतीय प्रकाशन व्यवसाय प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रति जिस प्रकार की अर्थ-परायण भावना से परिचालित हो हो रहा हैं उसके फलस्वरूप प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के नवाख्यान एवं उपलब्धियों की विवेचना में नाना बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है। इसका बहुत कुछ कारण यह हुआ कि औद्योगिक सभ्यता के विकास के समय यह नवोदित वर्ग न तो विशेष संगठित ही था, न ही उसके पास आज के जैसा ग्राहक समुदाय ही था और न ही शिक्षा का कोई विस्तृत क्षेत्र उस समय

विद्यमान था जो कि आज के प्रकाशक समुदाय के वाणिज्य का केन्द्र है। आज के प्रकाशकों के ग्राहक समुदाय का विश्लेषण किया जाए तो उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) विद्यार्थी समुदाय, (२) शिक्षित समुदाय और (३) केन्द्रीय एवं राज्य सरकार। इनमें से पहिले दो समुदाय वस्तुतः एक ही हैं। विद्यार्थी समुदाय ही शिक्षा की समाप्ति पर शिक्षित समुदाय में रूपांतरित होता है। जब तक वह विद्यार्थी के रूप में ग्राहक रहता है आज का प्रकाशक उसे टेक्स्ट बुक्स सप्लाई करता है। शिक्षा के बाद उनके मनोरंजन के लिए यौन जीवन की कुत्सा एवं अश्लीलता से युक्त कथा-साहित्य भी प्रस्तुत किया जाता है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में प्राचीन साहित्य की जो दुर्दशा हो रही है वह अकथनीय है। व्यवसायीवर्ग केवल अर्थोपार्जन के लिए उसका उपयोग कर रहा है। जो साहित्य हमारे राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति की अमूल्य धरोहर है, हमारी विशाल परम्परा का प्राणतत्व है, जो हमारे जातीय चरित्र की रचना का मूल स्रोत है, जिसने सहस्राब्दियों में अपने असीम प्रभाव द्वारा आधुनिक भारतीय मानस का शिल्प किया है, जो समग्र राष्ट्र के आंतरिक व्यक्तित्व का स्रष्टा है, वही प्राचीन साहित्य उसे अर्थलोलुप, मुद्रापरायण- वाणिज्यधर्मी वर्ग के ऐन्द्रिक भोग हेतु धनार्जन का साधन बना हुआ है। जिसमें से लोक हित का भाव सर्वथा तिरोहित हो गया है।

आधुनिक शिक्षा के रचना विधान में प्राचीन साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण उसका बाजार भी है, ग्राहक वर्ग भी है, शिक्षित समुदाय में भी अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति को जानने-समझने की जिज्ञासा हैं। उसीका अनियंत्रित स्वच्छंद लाभ आजका व्यापारी वर्ग उठा रहा है।

प्राचीन साहित्य हमारी जातीय एवं राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग एवं उसके रचना संगठन का महत्वपूर्ण उपादान है। अतएव उसके प्रति हमारे राष्ट्र का दृष्टिकोण सर्वथा निर्भ्रांत एवं सुसंतुलित होना आवश्य एवं अनिवार्य है। कोई कारण समझ में नहीं आता कि इस साहित्य को हम राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में स्वीकार न करे। जब हम कालिदास और तुलसी को अपने राष्ट्रीय कवि के रूप में स्वीकार करते हैं तो उनके साहित्य को क्यों न राष्ट्रीय सम्पत्ति स्वीकार किया जाय ? आश्चर्य है कि वास्तु एवं शिल्पकला की प्राचीन उपलब्धियों को तो हमारी सरकार राष्ट्रीय सम्पत्ति स्वीकार करके उनके संरक्षण आदि की व्यवस्था करती है, उन पर द्रव्य भी व्यय करती है किन्तु प्राचीन साहित्य के

प्रति उसका व्यवहार अभी भी प्रायः वैसा ही बना हुआ है जैसा कि साम्राज्यवादी सरकार का था। जब अजंता और एलोरा के भित्तिचित्रों को खुजराहो एवं कोणार्क के देवतामों को, किलों, मकबरों और मीनारोंको भारतीय शासन राष्ट्रीय सम्पत्ति स्वीकार कर उनकी व्यवस्था करता है तो क्या कारण है कि प्राचीन साहित्य को उसने व्यवसायी वर्ग के पास धनार्जन के लिए छोड़ दिया है। क्या ऋग्वेद से लेकर १९ वीं सदी के अंतिम छोर तक भारतीय वाङ्मय की जो उपलब्धि है वह किसी प्रकार भी कम महत्व की है ? क्या धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, काव्य आदि विधाओं में भारतीय मनीषा द्वारा प्रस्तुत कृतियों का उत्तराधिकार आधुनिक व्यवसायी मनोवृत्ति-सम्पन्न प्रकाशक वर्ग को है ? क्या कारण है कि इस राष्ट्रीय सम्पत्ति के प्रति भारत सरकार उदासीन है ? क्यों उसने यह समग्र वाङ्मय पूंजीपति के हाथों सौंप रखा है ? क्या हमारे राष्ट्रीय जीवन की इससे बड़ी भी कोई विडम्बना हो सकती है कि हमारे राष्ट्र की विशाल एवं समृद्ध परम्परा एक निपट स्वार्थी अर्थपरायण वर्ग के हाथों में बिना किसी नियंत्रण के स्वच्छंद रूप से आर्थोपार्जन के लिए छोड़ दी गई है ! जिसका दूषित परिणाम यहाँ तक दिखाई पड़ रहा है कि मानव जाति की चिंतना का मूल स्रोत, ऋग्वेद जैसा ग्रन्थ भ्रष्ट रूप से, सम्पादन एवं प्रूफ की अगणित अशुद्धियों के साथ न्यूज-प्रिंट पर छप कर भारत के प्रकाशन बाजार में बिक रहा है और शिक्षा के उच्चतम प्रतिष्ठानों में क्रय किया जा रहा है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र की इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणति और क्या हो सकती है ? प्राचीन वास्तु और शिल्प के संरक्षण पर हमारा राष्ट्र व्यय करता है और प्राचीन साहित्य (वाङ्मय) के प्रकाशन से राष्ट्रीय हित-अहित का ध्यान रखे बिना, एक वर्ग विशेष करोड़ो रुपया अर्जित करता है मानों हमारी समूची सांस्कृतिक परंपरा का उत्तराधिकारी वही प्रकाशक वर्ग हो !

निश्चय ही विद्यमान स्थिति विषम, संक्रामक एवं राष्ट्रीय जीवन, चरित्र एवं मूल्यों के लिए अमंगलकारी है, अशिव है। उक्त परिस्थिति को यदि शीघ्र ही परिवर्तित न किया गया तो हमारा राष्ट्रीय जीवन बौद्धिक एवं मानसिक व्याधियों का शिकार होकर अपनी रचनात्मक शक्तियों को सदासर्वदा के लिए खो बैठेगा, क्योंकि परंपरा के उत्तराधिकार एवं रचनात्मक शक्तियों से वंचित कोई भी राष्ट्र महत्तर संकल्प से चालित नहीं हो सकता, वह पंगु हो जायगा। उसका भविष्य न रहेगा—वह उसकी रचना कर नहीं सकता। ऐसी स्थिति में ही अनास्था एवं बौद्धिक अराजकता की सृष्टि होती है। हमारे राष्ट्रीय जीवन

में आज जो संकल्प-शून्यता, अनास्था और जीवन-मूल्यों की अराजकता फैली हुई है उसका बहुत कुछ कारण संस्कृति के प्रति हमारे राष्ट्र एवं उसके कर्णधारों का अन्यमनस्क किंवा असंतुलित दृष्टिकोण ही है। संस्कृति के सम्बन्ध में सुनियोजित एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में यदि राष्ट्रीय जीवन में अनास्था, संकल्प-शून्यता और भविष्य के प्रति किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का अंधकार फैले तो सहज स्वाभाविक है।

अतएव यदि हम अपने राष्ट्रीय जीवन को भविष्य रचना के महान् संकल्पों से आंदोलित और प्रेरित करना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि हमारा राष्ट्रीय जीवन विच्छिन्न मूल्यों की समष्टि न बने यदि हमारी आकांक्षा है कि भारतीय लोकमानस नवनिर्माण के स्वप्नों को अपनी पलकों में सजाए, सृजन के नवीन आलोक छंद की रचना करें तो इसके लिए आवश्यक है कि हम दृढ़तापूर्वक सांस्कृतिक जीवन में विद्यमान मूल्यों के तिमिरपर्व के समाप्त होने की घोषणा करें। अपने संस्कृति संबंधी दृष्टिकोण को मूल रूप से परिवर्तित करें। परंपरा के वर्गीय उत्तराधिकार को समाप्त कर राष्ट्रीय उत्तराधिकार का प्रवर्तन करें क्योंकि समग्र परंपरा एक व्यवसायी वर्ग को उत्तराधिकार में सौंप देना प्रकारान्तर से संस्कृति पर वर्ग-स्वामित्व को स्वीकार करना है क्योंकि संस्कृति और उसकी परंपरा हमारी उपलब्धि है। हमारा प्राचीन साहित्य (वाङ्मय) हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। अतएव जब तक इस राष्ट्रीय निधि पर वर्ग-स्वामित्व बना रहेगा, सांस्कृतिक जीवन में मूल्यों का विघटन भी विद्यमान रहेगा। क्योंकि वह वर्ग, जिसने कि प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति पर बलात् अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है, वह ह्रास की ओर, पतन एवं विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। अतएव आज उसके समक्ष भविष्य का स्वप्न नहीं है, संकल्प नहीं, विश्वास और जीवनास्था नहीं है। फलस्वरूप यह मरणोन्मुख वर्ग अपनी ह्रासोन्मुख भावधारा से परम्परा एवं संस्कृति पर दूषित एवं संक्रामक प्रभाव डालने लगा है।

स्पष्ट सी बात है कि यदि हम नवीन भारत की रचना में अपनी महान् संस्कृति और परम्परा का भी विनियोग करना चाहते हैं तो हमें संस्कृति एवं परंपरा पर स्थापित वर्ग-स्वामित्व को समाप्त कर उसे वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित करना होगा, उस पर राष्ट्रीय स्वामित्व की स्थापना करनी होगी। अर्थशास्त्र की शब्दावली में कहूं कि हमें अपने समग्र प्राचीन साहित्य (वाङ्मय) प्रकाशन का राष्ट्रीयकरण करना होगा। प्राइवेट सेक्टर के बजाय उसे पब्लिक सेक्टर में लाना होगा।

अपने प्रारम्भिक काल में इस वर्ग ने बहुत कुछ अच्छा कार्य किया था और बहुत से प्राचीन कवियों की रचनाओं को ये प्रकाश में लाए थे। किन्तु बाद में उन रचनाओं का बाजार बन जाने के बाद यह वर्ग उन्हीं की आवृत्तियाँ करने लगा। धनार्जन ही उनका एक मात्र लक्ष्य हो गया। परिणाम यह हुआ कि जिन प्राचीन कवियों का बाजार बन गया उनके अलावा अन्य कवियों की रचनाएं प्रकाशित नहीं हो पाईं। इस दृष्टि से कृपारामकृत 'हिततरंगिणी' का प्रकाशन अपवाद है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस सुझाव के क्रियान्वय में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित हों क्योंकि साहित्य (वाङ्मय) का थोड़ा-बहुत प्रकाशन कुछ सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा भी किया गया है। यथा हिन्दी क्षेत्र में काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् आदि द्वारा। भारत सरकार सुझाव के क्रियान्वय में इन संस्थाओं के दावों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर सकती है और लोकहित में जो ठीक समझा जाय निर्णय लिया जा सकता है।

प्राचीन साहित्य के प्रकाशन कार्य को या तो भारत सरकार स्वयं एक प्रोजेक्ट बनाकर अपनी तरफ से प्रारम्भ कर सकती है, सांस्कृतिक विभाग के मंत्रालय को यह कार्य सौंपा जा सकता है अथवा साहित्य अकादमी के अंतर्गत उसे लिया जा सकता है।

मेरे दृष्टिकोण से इस कार्य को निम्नानुसार क्रियान्वित किया जाए तो सर्वोत्तम होगा :

(१) भारत सरकार कापी राइट ऐक्ट में यथोचित संशोधन कर उन समस्त लेखकों की कृतियों का राष्ट्रीयकरण कर दे जिनकी मृत्यु हुए २५ वर्ष हो गए हैं।

इसके द्वारा भविष्य में किसी भी प्रकाशक को किसी भी मृत लेखक की कृति प्रकाशित करने का अधिकार नहीं रहेगा। दूसरे, जो कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं उनकी पुनरावृत्ति का अधिकार भी उन्हें नहीं रहेगा। वरन् अभी तक उपलब्ध समस्त भारतीय वाङ्मय के प्रकाशन का अधिकार एवं दायित्व भारत-सरकार का होगा।

(२) भारत सरकार इनमें से संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में प्राप्त सामग्री के प्रकाशन के अधिकार एवं दायित्व अपनी ओर रखकर वर्तमान भारतीय भाषाओं के साहित्य (वाङ्मय) के प्रकाशन के अधिकार एवं दायित्व सम्बन्धित भाषायी राज्य सरकारों को दे दे।

(३) तीसरा प्रश्न है कि यह कार्य केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के सांस्कृतिक प्रकाशन अथवा किसी मंत्रालय द्वारा किया जाए अथवा

साहित्य अकादमी एवं प्रांतीय सरकारों द्वारा गठित सांस्कृतिक बोर्डों (या साहित्य समिति के) द्वारा किया जाए। इनमें मेरा सुझाव यह है कि यह कार्य साहित्य अकादमी एवं प्रांतीय सरकारों द्वारा गठित इसी प्रकार के बोर्डों, कमेटियों या समितियों द्वारा किया जाए। किन्तु जरूरी यह है कि अकादमी व प्रांतीय कमेटियों का स्वरूप अधिकाधिक व्यापक एवं प्रजातांत्रिक आधार पर संगठित किया जाये जो कि अभी तक नहीं है। इससे साहित्य अकादमी एवं प्रांतीय सरकारों के सांस्कृतिक बोर्डों के पास भी कुछ ठोस एवं रचनात्मक काम हाथ में आएगा और वे केवल अपने मित्रों को पुरस्कार बांटने वाली अपकीर्ति सम्पन्न निष्क्रिय कमेटियां न रह जाएंगी।

इस सुझाव के क्रियान्वय से यह आशा बंधती है कि यदि सरकार ने व्यवसायी मनोवृत्ति से काम न लिया, प्रकाशित करने पर पुस्तकों का मूल्य कम से कम रखा—जैसी कि आशा की जानी अस्वाभाविक नहीं है—तो हमारा साहित्य बहुत प्रसारित होगा। उसे व्यापक क्षेत्र मिलेगा। वह सुविधा से सम्पूर्ण भारतीय जनता तक जा सकेगा। इनसे भारतीय समाज अपनी प्राचीन संस्कृति और परम्परा से सुविधापूर्वक परिचित होगा। यही नहीं, साहित्य अपने महत्तर लक्ष्य—जनता की अभिरुचि का परिष्कार पूरा कर सकेगा। शिक्षा और साक्षरता के प्रचार-प्रसार में सहयोग मिलेगा। पश्चिम के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति कम होगी। राष्ट्रीय जीवन और चरित्र में एक अद्भुत आत्मविश्वास की सृष्टि होगी।

प्रस्तुत योजना के क्रियान्वय से बुद्धिजीवी वर्ग का कोई अहित नहीं होगा। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन पर जो रायल्टी उन्हें प्राइवेट प्रकाशक से प्राप्त होती है वही भारत सरकार से भी—यदि भारत सरकार उन्हीं के द्वारा सम्पादित ग्रन्थों को प्रकाशित करेगी—प्राप्त होगी।

इससे एक लाभ यह भी होगा कि बहुत-सा प्राचीन साहित्य जो उपयोगी हैं और सामन्ती केन्द्रों किंवा संस्कारसम्पन्न महानुभावों के पास है—प्रकाशित हो सकेंगे। शासन कानून बना कर इन केन्द्रों से साहित्य प्राप्त कर सकता है और न देनेवाले व्यक्ति के विरुद्ध कठोर कार्यवाई भी कर सकता है।

इस सम्बन्ध में सर्वाधिक विचारणीय एवं महत्वपूर्ण विकल्प यह भी है कि शासन योजना को प्रत्येक भाषा का एक बुक ट्रस्ट बना कर क्रियान्वित कर सकता है अथवा क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों को यह कार्य सौंपा जा सकता है।

उससे एक लाभ यह भी होगा कि हिन्दी का प्रकाशन व्यवसाय साहित्यिक भंडार की पूर्ति हेतु नवीन योजना को ग्रहण करेगा—फलतः सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य समृद्ध होगा।

पूंजीवाद, हिन्दी प्रकाशन और साहित्य

देश के जीवन में १६४६ का वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सत्ता परिवर्तन का सिलसिला इसी समय शुरू हुआ। अतएव तदनुरूप सामाजिक और साहित्यिक जीवन में भी व्यापक परिवर्तनों का दौर इसी समय से प्रारम्भ होता है।

इस समय के पूर्व तक हिन्दी साहित्य जिस अवस्था से गुजर रहा था उसमें नए युग के साथ अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुए। यहाँ हम इस प्रकार के परिवर्तनों के एक पक्ष विशेष की ही चर्चा करेंगे। यह पक्ष है साहित्य की उत्पादकता का, उत्पादन के साधनों का, उत्पाद्य माल (साहित्य) के बाजार का माल की खपत का।

इस युग के पूर्व देश की राजभाषा अँग्रेजी थी — यों वह अभी है लेकिन इस युग के आविर्भाव के साथ हिन्दी के राजभाषा होने का प्रश्न उपस्थित हो जाता है और कुछ समय बाद बनने-वाले भारतीय संविधान में हिन्दी भाषा को एक विशेष दर्जा मिल भी जाता है। उस युग में इस दर्जे से आशय राजभाषा ही समझा गया था। अब इसकी क्या व्याख्या होती है यह दूसरी चीज है।

केन्द्र में श्री जवाहरलाल नेहरू के प्रधान मंत्रित्व में गठित प्रथम केन्द्रीय सरकार की स्थापना से ही हिन्दी क्षेत्र में उत्साह का वातावरण बन जाता है — तथा हिन्दी को राजभाषा बनाने की पेशकश जोरों से शुरू हो जाती है। स्वर्गीय बाबू राजेन्द्र प्रसाद, श्री पुरुषोत्तम दास टंडन मौलिचंद्र शर्मा प्रभृति अनेक नेतागण एतदर्थ यथेष्ट प्रयत्न करते हैं और उनके प्रयत्न कृतकार्य भी होते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दी की विशिष्ट मर्यादा स्थापित करने के लिए जब यत्न चल रहा हो उस समय देश के उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का इस दिशा में ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है।

अभी तक हिन्दी का प्रकाशन उद्योग अत्यंत दरिद्र अवस्था में था। सस्ता साहित्य मंडल, गंगा पुस्तक माला, गीताप्रेस गोरखपुर, इंडियन प्रेस, साहित्य-रत्न भंडार आगरा, साहित्य भवन इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी साहित्य-सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, चाँद कार्यालय, साहित्य सदन, चिरगाँव आदि कुछ गिनी-चुनी प्रकाशन संस्थाएँ ही इस क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। प्रेमचंदजी का सरस्वती प्रेस, विप्लव कार्यालय, चौखम्भा भवन (संस्कृत प्रकाशन) हिन्दी ग्रंथरत्नाकर आदि भी इसी प्रकार की संस्थाएँ मुख्यत: सेवा के भाव से इस क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। सन् १९४६ के पूर्व की समस्त हिन्दी प्रकाशन संस्थाओं की सम्मिलित पूँजी मिलकर भी इतनी नहीं थी कि उसे आज के हिन्दी प्रकाशन उद्योग में लगी पूँजी का शतांश भी कहा जा सके। अनुमान किया जाता है कि आज के हिन्दी प्रकाशन उद्योग में लगभग दस अरब की पूँजी लगी हुई है जबकि १९४६ के पूर्व इस उद्योग में लगी हुई पूँजी १० लाख भी स्वीकार नहीं की जाती। इसका बहुत बड़ा कारण यही था कि हिन्दी-प्रकाशन उद्योग व्यावसायिक दृष्टि से बहुत लाभकारी क्षेत्र न था। जो प्रकाशन-संस्थाएँ कार्य कर रही थी—वे मुख्यत: ध्येय प्रेरित संस्थाएँ थीं—यथा सस्ता साहित्य मंडल अथवा गीताप्रेस गोरखपुर। कुछ संस्थाएँ साहित्यकारों ने अपने परिश्रम या उद्योग से निर्मित की थी, यथा सरस्वती प्रेस, साहित्य सदन चिरगाँव, गंगा पुस्तकमाला या विप्लव कार्यालय आदि। हिन्दुस्तानी एकेडेमी, नागरी प्रचारिणी तथा साहित्य सम्मेलन प्रभृति कुछ सार्वजनिक संस्थान थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा की भावना से कार्य कर रहे थे। इनके अतिरिक्त कुछ थोडो प्रकाशन संस्थाएँ थी जो अल्प पूँजी में अपना कार्य चला रही थी।

१९४६ के पश्चात् इस स्थिति मे परिवर्त्तन प्रारम्भ होता है। हिन्दी के राजभाषा रूप की सम्भावना ने देश के बड़े-बड़े उद्योगपतियों को इस ओर आकृष्ट किया। हिन्दी प्रकाशन उद्योग व्यावसायिक पूँजी विनियोजन का अत्यन्त लाभकारी क्षेत्र सिद्ध हुआ, और पिछले २० वर्ष में लगभग १० अरब रुपये की नई पूँजी इस उद्योगमें विनियोजित की गई। यह पूँजी विनियोजन दोनों क्षेत्रों में हुआ सार्वजनिक क्षेत्र में तथा निजी क्षेत्र में भी। अनुमान किया जाता है, भारत में पूर्व स्थापित किसी भी उद्योग की तुलना में आनुपातिक दृष्टि से हिन्दी, प्रकाशन उद्योग ने सर्वाधिक निजी पूँजी को आकृष्ट किया है। अर्थात् उक्त उद्योग में विनियुक्त पूँजी का अनुपात अन्य उद्योगों में विनियुक्त पूँजी की तुलना में सबसे ज्यादा है। अतएव यह कहना अन्यथा न होगा कि हिन्दी व्यावसायिक आकर्षक का सर्वोत्तम क्षेत्र रही। इस समय लगभग एक सहस्र प्रकाशन संस्थाएँ हिन्दी प्रकाशन के क्षेत्र में कार्य कर रहीं हैं और लगभग

१० हजार मुद्रणालय तथा उनसे सम्बन्धित अन्य उद्योग इस कार्य में लगे हुए हैं। देश के कागज उत्पादन का बहुत बड़ा भाग इसी उद्योग में खपता है और कागज का संकट हमेशा बना रहता है।

हिन्दी प्रकाशन क्षेत्र में बड़े बड़े एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने भी प्रवेश कर लिया है तथा आज हिन्दी प्रकाशन अनेक प्रकार से हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित कर रहा है।

१९४६ के पूर्व कुछ गिने चुने हिन्दुस्तान, भारत, विश्वमित्र, आज, प्रताप आदि उँगलियों पर गिने जाने जितने पत्र निकलते थे। साप्ताहिक पत्र भी नाम के ही थे—वे भी उन देशभक्त प्रेरित कार्यकर्त्ताओं द्वारा निकाले जाते थे जो– इनके माध्यम से अपने पैर टिकाए रखना चाहते थे। १९४६ के बाद हिन्दी में दैनिक पत्रों की संख्या बढ़ी और वह संख्या सैकड़ों में है। साप्ताहिक पत्रों के क्षेत्र में बड़े उद्योगपतियों द्वारा व्यावसायिक स्तर पर अत्यंत सजावट, रंगरूप, अच्छे उत्तमोत्तम कागज पर छप कर अनेक प्रकार के साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। धर्मयुग और हिन्दुस्तान जैसे दो बड़े पूँजीपतियों के व्यावसायिक प्रकाशन हैं। साहित्यिक प्रकाशनों के अतिरिक्त भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रकाशन भी हैं—यथा फिल्म क्षेत्र से सम्बन्धित।

पाक्षिक तथा मासिकों के क्षेत्र में भी प्रत्यावर्त्तन हुआ। १९४६ के पूर्व के हिन्दी मासिक नाम मात्र है—वे भी साहित्यिक संस्थाओं के उपक्रम मात्र। कुछ गिने चुने मासिक प्रकाशन संस्थाओं द्वारा चालित थे। १९४६ के बाद यह क्षेत्र भी औद्योगिक पूँजी विनियोजन की व्यवसाय वृत्ति का कार्यक्षेत्र बना। आज हिन्दी में अनेक प्रकार के मासिक पत्र प्रारम्भ हो गए हैं। सभी प्रकार के पाठकों के लिए, साहित्यिकों के लिए महिलाओं के लिए, बालकों के लिए।

इस प्रकार कहना चाहिए कि हिन्दी का क्षेत्र भरापुरा हुआ।

प्रश्न यह है कि इसने हमारे साहित्यिक जीवन पर, और साथ ही हमारे साहित्यिक रचना-विधान पर तथा व्यापक संदर्भ में हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन पर क्या प्रभाव डाला।

सबसे पहली बात जो इस समग्र संदर्भ में विशेष रूप से सम्मुख प्रस्तुत हो रही है—सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित है। भाषा सम्बंधी उत्तर और दक्षिण के विवाद ने जिस प्रकार हमारे सांस्कृतिक जीवन को आघात पहुँचाया है उसने हमारे राष्ट्रीय जीवन की आधारभूमि को ही हिला दिया है। अपने से प्रेम

सब करते हैं—लेकिन परिवार हित के समक्ष स्वरति मूल्यवान् नहीं होती। परिवार का प्रेम आत्मप्रेम से उन्नत, व्यापक और श्रेष्ठ होता है। हिन्दी भाषा के प्रति हिन्दीभाषियों को प्रेम होना चाहिए लेकिन वह प्रेम देशप्रेम से ऊँचा नहीं। वह प्रेम भारत का स्थानापन्न नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति और उसके एकात्मभाव को उस प्रेम से बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो वह वरेण्य न कहा जायगा। हिन्दी प्रकाशन उद्योग में लगी हुई लगभग १००० करोड़ की पूँजी आज देश की एकात्मता के लिए खतरा बनकर खड़ी हो गई है। १००० करोड़ रुपये की यही विशाल पूँजी यदि सार्वजनिक क्षेत्र में योजनाबद्ध रूप से हिन्दी प्रकाशन उद्योग में विनियोजित की जाती तो भारत में भाषा समस्या जैसी विवादास्पद समस्या ही निर्मित न होती। लेकिन ऐसा न हो सका। हुआ यह कि अधिकांश में यह विनियोजन निजी क्षेत्र में हुआ और उसका स्वरूप योजनाबद्ध न रहा। जिसका लक्ष्य केवल व्यावसायिक लाभ था। उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश में स्वाधीन चिन्तन का गला घुट गया और हिन्दी भाषा और साहित्य को उन्नति की जिस भूमिका तक पहुँचना अपेक्षित था—वह सम्भव न हो सका। आज इस लज्जाजनक स्थिति का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अन्य विषयों की तो बात ही दूर, हिन्दी भाषा और साहित्य विषय में भी स्नातकोत्तर स्तर की सभी पुस्तकें हिन्दी में नहीं। स्नातकोत्तर परीक्षा में १–२ प्रश्नपत्र आज भी ऐसे हैं जिसमें कुछ पुस्तकें अंग्रेजी भाषा की रखनी पड़ती हैं। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय के एम. ए. के पाठ्यक्रम को देखकर इसका अनुमान किया जा सकता है। भाषा विज्ञान और समीक्षा सिद्धान्त ऐसे ही प्रश्न पत्र हैं। जिस क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में किसी भी पश्चिमी साहित्यिक मतवाद की तुलना में सर्वाधिक चर्चा हुई है उस क्रोचे के ग्रन्थ एस्थेटिक्स को भी हिन्दी प्रकाशन व्यवसाय हिन्दी में प्रस्तुत नहीं कर पाया है। यह है योजनाविहीन कार्यपद्धति का एक उदाहरण। मेरे कथन का यह अभिप्राय न लिया जाए कि हिन्दी भाषा में ज्ञानराशि आई ही नहीं। आई है किन्तु अत्यल्प परिमाण में। वह भी योजनाबद्ध पद्धति में नहीं। उदाहरणार्थ, अनुवादों को ही लीजिए। संस्कृत और अंग्रेजी से अनुवाद सबसे अधिक हुए किन्तु उनमें कोई योगसूत्र नहीं है। कालिदास के अनुवाद हैं—कई प्रकाशक छाप रहे हैं। शेक्सपिअर के अनुवादों का भी यही हाल है। एक ग्रन्थ के अनेक अनुवाद, अनेक प्रकाशक, अनेक अनुवादक और खरीददार हैं। विश्वविद्यालयों, कालेजों तथा बड़े प्रतिष्ठानों के सार्वजनिक पुस्तकालय। क्या यह सार्वजनिक सम्पत्ति का—भारत जैसे गरीब देश में सदुपयोग कहा

जाएगा ? ये अनुवाद भी कैसे हैं ? इसकी चर्चा से तो ग्लानि होने लगती है। प्रकाशक की दृष्टि व्यावसायिक है तो अनुवादक भी उसी दृष्टि से काम करेगा। योजनाबद्ध विकासकार्य और स्वतन्त्र व्यापारिक स्पर्धा दो भिन्न अर्थनीतियाँ हैं। हिन्दी प्रकाशन का क्षेत्र स्वतंत्र व्यापारिक स्पर्धा का क्षेत्र रहा है। अतएव उससे आशा की जाती थी कि वह हिन्दी भाषा को विकास की उस मंजिल तक पहुँचाता जहाँ वह अपनी शक्ति तथा योग्यता के आधार पर अहिन्दी भाषियों द्वारा अंग्रेजी की तुलना में अधिक ग्राह्य होती। हिन्दी भाषा की उन्नति तथा विकास के लिए केन्द्र सरकार को उत्तरदायी ठहराना तथा केन्द्रीय सरकार को प्रभाव में लेकर व्यावसायिक हितसाधन करना वह भी राष्ट्र की एकात्मता के मूल्य पर सर्वथा अक्षम्य अपराध है। वस्तुत: जब तक हिन्दी प्रकाशन उद्योग निजी क्षेत्र में कार्य कर रहा है—केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में सिवा इसके कि वह केन्द्रीय सेवाओं के लिए हिन्दी की न्यूनतम योग्यता आवश्यक निर्धारित करे, कोई मूलभूत दायित्व रह ही नहीं जाता। जब तक हिन्दी प्रकाशन उद्योग पूरी तरह अथवा एक बड़े अंश में सार्वजनिक क्षेत्र में नहीं ले लिया जाता हिन्दी भाषा के यथोचित तथा आवश्यक विकास की मंजिल पूरी नहीं हो सकती। और इसमें सन्देह नहीं कि भारत की उलझी समस्या का तब तक कोई समाधान सम्भव नहीं है। भारत की भाषा समस्या का समाधान हिन्दी भाषा के विकास द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी भाषा का विकास योजनाबद्ध प्रयास द्वारा ही सम्भव है। योजनाबद्ध विकास कार्य सार्वजनिक क्षेत्र में ही सम्भव हो सकता है। अत: हिन्दी प्रकाशन उद्योग का राष्ट्रीयकरण ही भारत की भाषा समस्या का एक मात्र समाधान है। आज तो स्थिति यह है कि केन्द्रीय सरकार का अरबों रुपया सार्वजनिक प्रतिष्ठानों द्वारा निजी प्रकाशनों को उनके अनुपयोगी प्रकाशनों के लिए सप्रेम भेंट किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के स्तर पर भी जो कार्य हो रहा है वह भी ऐसी ही दायित्वहीन पद्धति से किया जा रहा है।

खैर, यह तो भाषा समस्या की बात हुई। चूँकि वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकात्मता से सम्बन्धित है—और उसके सुचारु समाधान के अभाव में हमारे राष्ट्रीय जीवन के विशृङ्खल हो जाने का भय है अत: स्वाभाविक रूप से उसकी किंचित् चर्चा कर देनी पड़ी है। अन्यथा वह हमारा प्रस्तुत विवेच्य विषय नहीं है। देश में बड़े-बड़े विचारक और राजनीतिज्ञ हैं—उन्हें विचार करने दीजिए। हमारा प्रस्तुत विषय तो साहित्यिक जीवन और साहित्य के रचना विधान से सम्बन्धित है। अर्थात् हम इस तथ्य पर विचार करना चाहते हैं कि विपुल परिमाण में हिन्दी प्रकाशन उद्योग में हुए पूँजी विनियोजन

का हमारे साहित्यिक जीवन और रचना विधान पर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं।

इसमें तो कोई संशय ही नहीं कि इससे हिन्दी भाषा के क्षेत्र में साहित्यकारों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो गई। इस समय हिन्दी के साहित्यकारों की अनुमानित संख्या लगभग बीस हजार है, जबकि अविभक्त भारत में यह संख्या किसी भी स्थिति मे एक हजार से अधिक न थी। इसे हम देश के रचनात्मक क्षितिज का विस्तार कह सकते हैं। देश में उच्च शिक्षा के प्रसार तथा हिन्दी प्रकाशन उद्योग के विस्तार की यह स्वाभाविक परिणति है। जिस प्रकार हमारी शिक्षा पद्धति एक बने हुए साँचे में से स्नातक ढालती है उसी प्रकार हमारे प्रकाशन उद्योग भी एक बने हुए साँचे में से साहित्यकार ढालता है। वर्तमान हिन्दी क्षेत्र में लगभग ५००० समालोचक, २ हजार उपन्यासकार, २ हजार कवि, २ हजार नाटककार, २ हजार कहानीकार, २ हजार पत्रकार तथा लगभग ५-६ हजार स्फुट विषयों के लेखक हैं। लगभग एक हजार तो महिला लेखिकाएँ ही है। कुछ लोगों का ख्याल इस संख्या को बहुत कम मानता है और इसे खींचकर ५० हजार तक ले जाना चाहता है जो बहुत युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता। वर्तमान में दिल्ली इस आबादी का सबसे बड़ा केन्द्र है। अकेली दिल्ली में हिन्दी के साहित्यकारों की संख्या लगभग दो हजार आँकी जाती है।[१]

नए युग के साहित्यिक जीवन का महत्वपूर्ण पक्ष पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार है। पुस्तकाकार रूप में उसका स्वरूप रायल्टी कहा जाता है। सभी साहित्यकार ग्रंथ-लेखक नहीं हैं। किन्तु पारिश्रमिक या पुरस्कार से प्राय: सभी का सम्बन्ध आता है। अतः पारिश्रमिक या पुरस्कार का महत्व विशेष है। यद्यपि इसका सिलसिला पूर्ववर्ती है - लेकिन यह मुख्यतः नवयुग की देन है। अविभक्त भारत में एक तो पत्र-पत्रिकाएँ ही गिनी चुनी थी, फिर उनमें पारिश्रमिक देने की नीति नाम मात्र की थी। एक तो लेखकों को पारिश्रमिक भेजा ही नही जाता था तथा दूसरे लेखकगण भी पारिश्रमिक कम ही स्वीकार करते थे। पुरानी पत्रिकाओं में पारिश्रमिक शब्द के स्थान पर व्यवहृत होनेवाले शब्द 'पत्र पुष्प' से इसका आभास मिल सकता है।

---

१. इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए 'वर्तमान हिन्दी साहित्य और साहित्यकार' शीर्षक लेख देखिए।

नए युग की भूमिका निराली है। अब पत्र-पत्रिकाएँ साधारण, सहित प्रकाशन संस्थाओं से नहीं निकलतीं। उनके प्रकाशक निजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के धनी प्रतिष्ठान हैं। अतएव लेखकों को उनके नाम तथा पद मर्यादा के अनुसार पारिश्रमिक दिए जाने का विधान है। उच्च पदस्थ तथा नामधारियों को बड़ी अर्थ राशि तथा सामान्य प्रकार के लोगों को मध्यम एवं लघु राशियाँ पारिश्रमिक के रूप में प्रदान की जाती हैं। यह सर्वथा नई परिस्थिति है। इसके पूर्ववर्ती युगों में साहित्यकार तथा सामान्य पाठक के बीच पत्र-पत्रिकाओं तथा उनके सम्पादकों की स्थिति एक सहयोगी माध्यम की ही स्थिति थी। पत्र-पत्रिकाओं की नीति भी देश की स्वाधीनता की आकांक्षा से चालित थी, देशभक्ति और देशोन्नति का भाव ही उनका आदर्श था तथा साहित्यकार का उद्देश्य भी यही था। फलतः पत्रपत्रिकाओं के सम्पादकों तथा लेखकों का सम्बन्ध आर्थिक न होकर साहित्यिक ही था। पत्र-पत्रिकाएँ भी अधिकांश में समाजवाद का समर्थन करती थीं—तथा हिन्दी के लेखकगण भी समाजवादी विचारणा को ही देश की उन्नति का मार्ग समझते थे।

लेकिन बड़े परिमाण में औद्योगिक पूंजी के विनियोजन ने इस पुरानी भूमिका को सर्वथा समाप्त कर दिया। आज की अधिसंख्यक पत्र-पत्रिकाएँ औद्योगिक पूंजी के विनियोजन का परिणाम हैं। फलतः उनकी मूल-भूत नीति निजी क्षेत्र की स्थिति सुदृढ़ करना है। ये पत्र तथा पत्रिकाएँ बड़ी संख्या में पारिश्रमिक की राशि लेखकों को वितरित करती हैं। एक अनुमान के अनुसार निजी क्षेत्र का पूंजीपति समुदाय अपने विविध प्रकाशनों के माध्यम से लगभग १० लाख रुपया प्रतिमास हिन्दी के साहित्यकारों को वितरित करता है। केवल पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से दी जाने वाली राशि लगभग २ लाख आंकी जाती है।

यह राशि साहित्यकारों के व्यापक समुदाय तक पहुँचती है। रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। रचनाएँ वे ही प्रकाशित होती हैं जो सम्पादन विभाग द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं। रचनाएं वही स्वीकार की जाती है जो पत्र की रीति नीति के अनुरूप होती हैं। अन्य लेखक जिनकी रचनाएँ स्वीकृत नहीं हो पातीं वे इस बात का प्रयत्न करते है कि यथासम्भव इस प्रकार कि रचनाएँ लिखें कि वे स्वीकृत हो सकें। अतएव वे यथासम्भव ऐसा ही साहित्य लिखने का प्रयत्न करते हैं कि वह पत्रों की रीति नीति के अनुकूल हो। बड़े उद्योगपतियों द्वारा संचालित पत्रों की रीति-नीति के अनुरूप ही छोटे उद्योगपतियों के पत्र भी अपनी रीति नीति निर्धारित करते हैं।

इनके प्रभाव में ही सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा संचालित पत्रों की रीति नीति निर्धारित होती है और इन सभी के संयुक्त प्रभाव में सार्वजनिक क्षेत्र (केन्द्रीय तथा राज्यीय) की पत्र-पत्रिकाओं की रीति नीति निर्धारित होती है। इस प्रकार आधुनिक साहित्य का सम्पूर्ण रचनात्मक क्षेत्र एक विशेष विचार सरणि के सांचे में ढला हुआ मिलता है।

बड़े समाचार-पत्र विचारों के नए-नए आन्दोलन चलाते हैं। वे ही विचारान्दोलन बाद में छोटे समाचार-पत्रों मे पहुँचते हैं। सभा-सस्थाओं के पत्रों में स्थान पाते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के पत्रों मे उनकी झलक मिल जाती है।

साहित्यिक जीवन मुख्यत: स्वार्थचालित हो गया है। अर्थोपार्जन लेखक का प्रधान धर्म बन गया है। बिना पारिश्रमिक के लिखनेवाला लेखक छोटा या हीन लेखक समझा जाता है जिस प्रकार सड़क पर पैदल चलनेवाला आदमी छोटा आदमी समझा जाता है।

पुस्तक प्रकाशन का क्षेत्र भी लगभग यही है। कुछ बड़े प्रकाशक है एकाधिकारी कहे जा सकने योग्य। इनकी पुस्तक पलक मारते हिन्दुस्तान भर में व्याप्त हो जाती है। दूसरे प्रकाशन मध्यम श्रेणी के हैं। इनकी पूँजी कम है। ये कोई नया विचार लाकर 'पुश-अप' करना चाहें तो कठिन पड़ता है। फिर छोटे और गरीब प्रकाशक हैं। ये आधे बुकसेलर और नाममात्र के प्रकाशक हैं। पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र पर भी बड़े प्रकाशकों का ही नियन्त्रण है। वे ही लेखक बनाते हैं। बिना उनकी सहायता के आज के भारत में कोई बड़ा लेखक नहीं बन सकता। कुछ पुराने लेखक हिन्दी मे काम कर रहे थे। उन्हें इन बड़े प्रकाशनो ने स्वीकार कर लिया है। १९४६ के बाद हिन्दी मे जो बड़े लेखक पैदा हुए वे इन्हीं प्रकाशन संस्थाओं की ही सृष्टि हैं। आज के भारत में बड़ा लेखक वही है जिसकी पुस्तक बड़ी सजधज के साथ निकलती है। आर्ट पेपर, एँटिक या ८० पौंड के कागज पर छपती है। रेग्जीन बाइंडिंग होती है। बड़ा साइज होता है। फिर उसकी चर्चा इन्ही प्रकाशनों के पत्रों में होने लगती है। लेखक पलक मारते 'महान्' हो जाता है। महान्— अर्थात् उसकी पुस्तक कोर्स में पढ़ाई जानी चाहिए।

पुस्तक प्रकाशन का सिलसिला पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम से है। जो लोग इन पुस्तक प्रकाशकों के ग्रन्थों को पाठ्यक्रमों में लगाने तथा शासकीय अर्धशासकीय संस्थाओं में खरीद करने में सहायक होते हैं—वह

इतके लेखक हैं। जो लेखक प्रकाशकों की इस प्रकार की सहायता नहीं कर सकते वे प्रकाशकों के लेखक हैं अथवा भारत विभाजन के पूर्व निर्मित लेखक हैं। हिन्दी का अधिसंख्यक नया लेखक या तो प्रकाशक-निर्मित लेखक है जो प्रकाशकों की विचार का, बाजार की माँग आदि के अनुरूप साहित्य तैयार करता है, अथवा वह प्रकाशकों की सहायता कर सकने में समर्थ पदाधिकारी है। प्रथम क्रीत दास है, द्वितीय सहयोगी। तीसरे प्रकार का लेखक स्वाधीनता-पूर्व का प्रतिष्ठित लेखक है। और चतुर्थ वर्ग लेखकों का है जिन्होने यह अनुभव किया है कि उनकी आवाज हिन्दी प्रकाशन व्यवसाय के इस दूषित चक्र के कारण बाहर नही निकल सकती—लिहाजा उन्होने अपना प्रकाशन प्रारम्भ किया और खड़े हुए।

भारत के बड़े उद्योगपतियो ने अपने प्रकाशनों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से शताधिक हिन्दी लेखको का निर्माण कर लिया है। अब उन लेखकों की प्रतिष्ठा और कीर्ति कायम हो गई है। वे हिन्दी के बड़े लेखक माने जाते हैं। उनके कृतित्व को बहुत ऊँचा करार दिया जाने लगा है। साहित्य का नया विचारान्दोलन इन्ही लेखकों, उद्योगपतियों की पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तक-प्रकाशन प्रतिष्ठानों से ही चालित-परिचालित होता है। जो ये कहें वह पत्थर की लकीर, ब्रह्म वाक्य।

हिन्दी के हजारों दूसरे लेखक उसे दुहराते है। जन समाज पर वही विचारणा काम करती है।

इस समग्र परिस्थिति के परिणामस्वरूप साहित्य और जीवन के गम्भीर और उदात्त मूल्यों की चर्चा समाप्त हो गई है। चर्चा है नोबल पुरस्कार की अर्थात् इन लेखकों में से किसे नोबल पुरस्कार मिलता है। आशा की जाती है कि इन लेखकों में से किसी को शीघ्र ही नोबल पुरस्कार प्राप्त होगा।

व्यक्तिनिष्ठा पर आधारित लेखकों के छोटे-बड़े गिरोह आज के हिन्दी साहित्य का वैशिष्टय हैं। लगभग १०० छोटे-बड़े गिरोह आज के हिन्दी साहित्य में विद्यमान हैं।

लेखकों और साहित्यकारों के पास समाज को देने को कुछ नहीं है। उन्होंने सिद्धान्त बना लिया है कि साहित्यकार समाज के प्रति प्रतिश्रुत नहीं। पथावर नहीं है। आदि।

जिन लोगों ने यह आदर्श नहीं अपनाया उनकी हालत भी बहुत बेहतर नहीं है। एक तो उनमें से भी अधिकांश के पास समाज को देने के लिये सचमुच

कुछ नहीं है। और अगर किसी के पास देने को कुछ है भी तो सम्भवतः देने की ताकत उसमें नहीं है।

निरोह हूँ। साहित्य अर्थोपार्जन का माध्यम है। 'अहोरूपं अहोध्वनिः' का कारबार है। पंडित रामचंद्र शुक्ल सदृश कीर्तिजयी आचार्य के जीवन काल मे उन पर एक भी आलोचना ग्रन्थ या अभिनन्दन ग्रन्थ नहीं निकला था लेकिन आज तो हिन्दी में एक ऐसा सिलसिला शुरू हो गया है जिसे देख कर ग्लानि हुए बिना नही रहती। इस भीड़भाड़ में साहित्य की गम्भीर साधना और तात्विक निष्ठा के मूल्य प्रायः विलुप्त हो गए हैं। आश्चर्य की बात न होगी, यदि आने वाले युग का इतिहासकार इस युग को अन्धकार-युग के नाम से सम्बोधित करे।

नए मान पुराने प्रतिमान :
कवि गिरिजाकुमार माथुर

मेसर्स राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली से "आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि" शीर्षक माला के अन्तर्गत प्रकाशित 'गिरिजा कुमार माथुर' नामक काव्य संग्रह मे जीवन वृत्त' शीर्षक से कवि का परिचय प्रारम्भ करते हुए कैलाश वाजपेयी नामक एक सज्जन ने लिखा है :

"ऐसे भी कवि होते हैं, जिन्हे किसी काल की धाराविशेष मे बाँधा ही नही जा सकता। वे वादी नही होते, और किसी एक ही विधा मे सीमित रह कर काव्य-रचना करना उनके लिए असम्भव होता है।

वे पिछली समस्त मान्यताएँ अस्वीकार करके आगे बढते है, किन्तु स्वनिर्मित मौलिक राह पर भी सन्तुष्ट नही होते।

उन्हे सिद्धान्तबद्ध होकर जीने के लिए विवश नही किया जा सकता, क्योंकि उनकी चेतना के धरातल वर्धमान रहते हैं।

वे भविष्यजीवी होते हैं, इसीलिए अक्सर उनका वर्तमान उपेक्षित रह जाता है।

वे अस्वीकृत नही होते, लेकिन साहित्य मे उनकी स्थिति एक अजनबी, एक 'आउट साइडर' की सी होती है।"

इस मजमून मे से यदि चार-पाँच शब्द निकाल लिए जाएँ और उनकी जगह दूसरे शब्द रख दिए जाएँ—तो मजमून का सही सही एहसास हो सकता है। मसलन यह कि 'कवि' की जगह आदिवासी', 'धारा' की जगह 'धर्म', विधा' की जगह 'जाति', 'साहित्य रचना' की जगह 'जीवन रचना' और 'साहित्य' की जगह 'समाज' शब्द रख दिये जाएँ। इस परिवर्तित अवस्था में उसका स्वरूप निम्नानुसार होगा :

"ऐसे भी आदिवासी होते हैं, जिन्हें किसी काल के धर्म विशेष में बाँधा ही नहीं जा सकता। वे धार्मिक नही होते, और किसी एक ही जाति में सीमित रहकर जीवन-रचना करना उनके लिए असम्भव होता है।

वे जिनकी समस्त मान्यताएँ अस्वीकार करके आगे बढ़ते हैं, किन्तु स्वनिर्मित मौलिक राह पर भी सन्तुष्ट नहीं होते।

उन्हें सिद्धान्तबद्ध होकर जीने के लिये विवश नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी चेतना के धरातल वर्द्धमान रहते हैं।

वे भविष्य जीवी होते हैं, इसीलिए अक्सर उनका वर्तमान उपेक्षित पड़ जाता है।

वे अस्वीकृत नहीं होते, लेकिन समाज में उनकी स्थिति एक अजनबी एक 'आउट साइडर' की सी होती है।

इस नए मजमून को पढ़कर इस बात का ठीक-ठीक एहसास हो जाता है कि कवियों के लिए किस प्रकार के प्रतिमान आविष्कृत हो गए हैं। इसमें शक नहीं कि लक्ष्य ग्रन्थों की रचना होने पर ही लक्षण ग्रन्थ बना करते हैं। इस श्रेणी के कवि हमारे समाज में बहुतायत से पाए जाते हैं—तभी तो ये लक्षण निर्धारित हुए है। यदि ऐसे कविगण हमारे समाज और साहित्य में न होते तो ये प्रतिमान ही न रचे जाते। पर क्या कवियों के लिए ये प्रतिमान स्वीकार किए जा सकते हैं ? सामान्यतः इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कारण यह कि सभी कवि दृढ़ आस्था और बलवती निष्ठा वाले नहीं होते। ऐसे कवि कम होते है, जो महान् आस्था से चालित रहते हैं। जो निष्ठापूर्वक कह सकते हैं –

संतन को कहा सीकरी सों काम।

अथवा—

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै॥
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

—सूरदास

अथवा—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

× × × ×

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी कहँ प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।

—तुलसीदास

× × × ×

ऐसे कवि ही कह सकते हैं—

मन मस्त हुआ फिर क्यों बोले।
हंसा पाये मान सरोवर ताल तलैया क्यों डोले।
हीरा पायो गाँठ गँठियायो बार-बार वाको क्यों खोले।

—कबीर

लेकिन ऐसे भी कवि होते हैं जो मानसरोवर पाकर भी ताल तलैया में डोलते हैं। अम्बुज रस चखकर भी करील फल खाते है। कामधेनु को छोड़कर छेरी दुहते हैं। हीरा पाकर भी खो बैठते है। और फिर सिर धुनते हैं कि 'सुधा का छोर' उनके हाथ से निकल गया। श्री कैलाश वाजपेयी के अनुसार वे भविष्यजीवी होते हैं। भविष्यजीवी कैसे हो सकते हैं—? यह सवाल नहीं किया जा सकता। कारण यह कि यह ज्योतिष विद्या का मामला है। लग्न, राशि, दशा, ग्रहदशा, महादशा, अंतर्दशा तथा ग्रहों का बलाबल देखकर श्री कैलाश वाजपेयी ने यह फल कहा है। उस पर प्रश्न न कीजिए। भविष्य में क्या होता है? कौन देख आया है। इसे कौन काट सकता है। ऐसा कहकर वर्त्तमान को तो सिद्ध किया ही जाए।

ऐसे कवि हर युग मे होते है। कहना चाहिए कि हर युग में कवियों का बहुसंख्यक समुदाय ऐसा ही होता है। प्रत्येक युग में ऐसे कवियों की एक बटालियन रहती है। साथ में चाटुकारों और पिछलगुओं का ढेर होता है—जो ऐसे हिम्मतहारे कवियों को विश्वास दिलाते रहते है कि आप महान् हैं, भविष्य के कवि हैं। और समय के साथ महाकाल का फैसला लिखा जाता है। उस समय न चाटुकार होते हैं न पिछलग्गू, ऐसे हजारों कवियों को दीमक खा गए।

वर्त्तमान युग में हमारे साहित्य क्षेत्र में ऐसे कवियों की बाढ़ आई हुई है—जिनकी कोई आस्था नहीं; कोई निष्ठा नहीं, कोई ईमान नहीं। यथावसर बदलने-वाले ये कवि कहा करते हैं कि उनकी चेतना के धरातल वर्धमान रहते हैं। मौका परस्ती का नाम है, चेतना के धरातल का वर्धमान होना। शाहे वक्त की पदचाप पर कविता सजाना और कहना कि हम इलहाम लेकर आये हैं।

वर्धमान चेतनावाले इन कवियों के विरोह होते हैं, जो राजकीय तथा पूँजीवादी प्रोत्साहन से साहित्य के क्षेत्र पर कब्जा किये रहते हैं।

श्री कैलाश बाजपेयी ने जो सिद्धान्त सूत्र रचे हैं वे ऐसे कवियों के लिये पूरी तरह फिट बैठते हैं। लेकिन हम यह स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं है कि "श्री गिरिजा कुमार अकेले ऐसे कवि हैं" इस प्रकार के कवियों की कमी नहीं है। पूरी एक अक्षौहिणी है। स्वनाम धन्य, कवि कोकिल, कुंचित केश, कवि-प्रसिद्ध, पंडित सुमित्रानंदन जी पंत को ही लीजिए, क्या उपयुंक्त सिद्धांत सूत्र उन पर पूरी तरह फिट नहीं बैठते ? क्या उनको किसी काल की किसी धारणा विशेष में बाँधा जा सकता है ? क्या वे किसी एक सिद्धान्त के हो सके हैं ? अथवा उनकी चेतना के धरातल वर्धमान नही हैं ? और फिर अकेले पंतजी ही क्यों, केन्द्र में नेहरू सरकार की स्थापना (१६४६) के बाद हिन्दी के अनेक कवियों की चेतना उसी प्रकार वर्धमान हो गई थी जिस प्रकार युद्धकालीन-फासिज्म-विरोधी-प्रगतिवाद में हिन्दी कविगणों की चेतनाएँ वर्धमान हुई थीं। हाँ, पंतजी ने नेतृत्व किया। वे प्रयोक्ता हैं—शेष अनुकर्त्ता।

हम श्री बाजपेयी के इस कथन को भी स्वीकार नहीं कर सकते कि साहित्य में इन कविगणों की स्थिति आउट-साइडर जैसी होती है। वस्तुतः साहित्य को समाज तक पहुँचाने के माध्यमों से आजीविका की खोज में भटकने-वाले सैकड़ों नवयुवक उनके अनुयायी होते हैं—जो चिल्ला-चिल्लाकर उन्हें भविष्यद्रष्टा के रूप में साहित्य में प्रतिष्ठित करते हैं।

इस प्रकार के कवियों का काव्याभास भी काव्य-रूप में वर्तमान युग में स्वीकार किया जाए एतदर्थ भविष्य की बात कहना अत्यन्त आवश्यक होता है। शायद ये नए आलोचक इस प्रकार के सब कवियों की जन्म कुंडली भली भाँति देख चुके हैं।

पंतजी से एक बार मैने उनके परिवर्तित दृष्टिकोण के सम्बन्ध में प्रश्न किया। जिसके उत्तर में उन्होंने कहा कि जो मैं आज कह रहा हूँ वह मेरी आत्मा का सत्य है, जो मेरी वाणी के सत्य से बड़ा है। मैने पूछा कि जब आपने वाणी का वह सत्य लिखा था तब क्या वह आत्मा का सत्य न था ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर पंत जी न दे पाए।

हम आज किस आधार पर यह निश्चयात्मक विश्वास करते हैं कि पंतजी जो आज कह रहे हैं वह उनकी आत्मा का सत्य है ही—जबकि उनकी आत्मा का सत्य भी बदला करता है। फिर कौनसा क्षण है उनके कृतित्व का—जो विश्वसनीय कहा जा सके।

यह विश्वसनीयता ही काव्य का मूल तत्व है। पंतजी का समस्त काव्य इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कहें कि उनका काव्य मौलिक नहीं है। निराला ने बहुत दिन पहिले यह बात कही थी। गहरी और विश्वास योग्य बात है। जिस कृतित्व पर उसके स्रष्टा को ही विश्वास नहीं है उस पर समाज किस बल पर विश्वास करे ? उनके किस काव्य को सच्चा माने कि वह उनके प्राण का - आत्मा का सत्य है ? क्या सब कुछ यथावसर नहीं हो सकता ?

ऐसे कवि जो यथावसर चोला बदलते रहते हैं—क्या अपनी कृति के प्रति निष्ठावान् है ? अपने प्रति निष्ठावान् है ? उस क्षण में भी जिस क्षण में वे सृजन-रत है ? यदि कवि सृजन-क्षण में भी अपने प्रति निष्ठावान् है—तो उसकी कृति में वह निष्ठा अवश्य अवतरित होगी। ऐसी कृति निष्ठा से पूर्ण होगी। यह निष्ठा तभी तो अवतरित हो सकती है जब कवि एक क्षण (सृजन क्षण) के लिए ही सही—कम से कम अपने प्रति निष्ठावान् हो, ईमानदार हो। तभी वह कृति 'निश्छल आत्माभिव्यक्ति' हो सकती है। लेकिन कवि एक क्षण के लिए भी निष्ठावान् और ईमानदार होने को तत्पर नहीं है तो उसकी रचना 'कविता' नहीं है — शब्दों का खेल चाहे हो।

श्री कैलाश बाजपेयी का मत है कि श्री गिरिजा कुमार भी इसी प्रकार के कवि हैं। बल्कि उनका तो यह भी कहना है कि वे अकेले ऐसे कवि है। जहाँ तक उनके अकेले होने का प्रश्न है हम जानते है कि इस श्रेणी में कवियों की सख्या कम नही है।

किन्तु क्या श्री गिरिजा कुमार भी इसी श्रेणी के कवि है ? यह प्रश्न अवश्य विचार के लिए प्रेरित करता है।

श्री गिरिजा कुमार माथुर लम्बे अर्से से हिन्दी कविता के क्षेत्र में कार्य करते आ रहे हैं। १९४१ में प्रकाशित 'मंजीर' उनका प्रथम काव्यसंग्रह था। १९६८ में प्रकाशित जो बँध नही सका' उनकी रचनाओं का अन्तिम संग्रह है। मोटे तौर पर श्री गिरिजा कुमार को हिन्दी कविता के क्षेत्र में कार्य करते हुए लगभग पूरे ३० वर्ष व्यतीत हो गए हैं।

हिन्दी कविता के क्षेत्र मे प्रेम और यौवन के कवि के रूप में उनका आगमन हुआ था। किन्तु प्रिया-प्रेम की विफलता तथा जीवन की कटिक

परिस्थितियों ने उन्हें प्रगतिवादी बना दिया था। उनकी प्रेम सम्बन्धी रचनाओं का प्रथम संग्रह 'मंजीर' है। मंजीर की रचनाओं पर छायावादी प्रगीत शैली की छाप है।

कवि का दूसरा संग्रह 'नाश और निर्माण' नाम से सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह कवि के मार्गान्तरण का द्योतक है। रोमानी और प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के बीच सेतु की तरह इस संग्रह के प्रथम भाग—जिसका शीर्षक 'नाश' दिया गया है—में प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ है तथा दूसरे भाग में —जिसका शीर्षक 'निर्माण' दिया गया है प्रगतिवादी प्रभाव से प्रेरित रचनाएँ हैं।

कवि व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि से उसकी प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं का महत्व है—क्योंकि उसमें यथास्थान उसके जीवन तथा प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण का आभास मिलता है। प्रणय भंग हो जाने पर कवि पूजा करने से घबराते हुए कहता है:—

> अब वह दिन ही नहीं रहा
> जो फिर से कुछ अरमान सजाऊँ
> अब हिम्मत ही रही नहीं
> जो एक नया पाषाण सजाऊँ
> मेरी बची हुई पूजा अब
> पूजा करने से घबराती
>
> ('नाश और निर्माण', पृष्ठ ७-८)

हिन्दी कविता में प्रेम की उदात्त भावना का यथोचित विकास हुआ है। प्रसाद का कवि प्रणयभंग होने पर भी 'मेरी मानस-पूजा का पावन प्रतीक अविचल हो' की घनीभूत आस्था से प्रेरित रहा है। अतएव प्रसाद काव्य के प्रेम-दर्शन के संस्कारों से युक्त हिन्दी मानस को इससे धक्का भले ही लगे—लेकिन कवि की प्रतीति कुछ दूसरी ही है। उसका अन्तर व्यथित एवं क्षुब्ध है। वह साफ-साफ कहता है कि वह प्रेम न था; वरन् 'सुधा-बिन्दु में संचित विष था'।

लेकिन अपने प्रेम को कवि बार-बार बलिदान' और न्यौछावर का अभिधान प्रदान करता है। वह कहता है:—

'तन-मन का बलिदान अखीरी
पूजन का त्योहार नहीं था'

अथवा—

'नादानी ही समझ रहे हो
मूर्तिमान बलिदानों को भी'

यद्यपि गिरिजाकुमार के प्रणय-चित्रों में प्रसाद के आँसू के चित्र (आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर वह भाग गया) जैसे चित्र भी मिलते हैं (हाथों में आते ही आते छूट गई मोती की थाली) तथापि कवि प्रसाद की तरह उसका कवि उस भाव स्थिति तक नहीं पहुँच पाता—जहाँ पहुँच कर प्रसाद ने लिखा था :—

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरन्द भरी खिल जाएँ
तोड़ी जाएँ बे मन की।

संवेदना के इस धरातल पर पहुँचने के लिए प्रसाद ने उस मंजिल को भी पार किया था कि वह कह सके :—

छलना थी फिर भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयम् बना था

लेकिन गिरिजाकुमार उस भाव स्थिति को नहीं पहुँच सके। वे छायावादी कवि न थे। लिहाजा टूट गए। उन्होंने लिखा—'हार गए हम प्रथम लड़ाई—जिन्दा लौट रहे हैं मर कर'। मर कर जिन्दा लौटने वाले कवि के मन में प्रेम शेष न रहा। शेष रही घृणा। घृणा जीवन से पूरी करने के लिए कवि ने लिखा :—

अभी जिएँगे और घृणा
जीवन से पूरी करने भर को
× × ×
पढ़ने को मर्सिया स्वयं पर
रुका कारवाँ चलने भर को

प्रस्तुत भूमिका से स्पष्ट है कि कवि के समक्ष प्रेम और जीवन का कोई उदात्त और पावन स्वरूप नहीं रह गया है। इसी बीच उसका 'अनजाने' से साक्षात्कार हो जाता है और वह स्वीकार कर लेता है :—

प्यार खोया था मगर मैं प्यार लाया
स्वयम् भूला एक क्षण तुमको भुलाकर।

प्रसाद का कवि व्यक्तिगत वेदना का उदात्तीकरण करते हुए भावयोग के माध्यम से करुणा की सामाजिक भूमिका पर पहुँचता है लेकिन गिरिजाकुमार का कवि अकस्मात् दूरी पर गूँजता शंख सुनता है और तुरत-फुरत 'दूर मंजिल से हटा मैं सुमन रथ पर।'

प्रगतिवाद का सुमन-रथ साहित्य क्षेत्र में इस समय तक उपस्थित हो गया था। श्री गिरिजाकुमार पूरे उत्साह के साथ इस सुमन-रथ पर आरूढ़ हो गए।

युद्ध काल था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद फासिज्म से टकरा रहा था और गुलामों को उपदेश दे रहा था कि यदि सभ्य और संस्कृत हो गए हो तो 'आओ फासिज्म से लड़ने के लिए अगली कतार में खड़े होओ'। फिर फासिज्म ने साम्यवादी रूस पर भी हमला कर दिया था। दुहरा आनन्द था प्रगतिवाद के सुमन-रथ में। 'गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज।' कौन नहीं बैठा इस समय प्रगतिवाद के सुमन रथ में? क्या पंत? क्या नरेन्द्र? क्या दिनकर? क्या अंचल? क्या उदयशंकर भट्ट? क्या भगवती चरण? क्या सोहनलाल? क्या मोहनलाल? कौन लाल था जो इस सुमन-रथ में नहीं बैठा? बड़े-बड़े श्वेतकेश साहित्यकार जिनका प्रगतिवाद से दूर का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता—इस सुमन-रथ पर विराजे हुए हैं। बाबू गुलाबराय यहाँ हैं। युद्ध प्रचार विभाग की शोभा बढ़ानेवाले राष्ट्र-कवि दिनकर जी यहाँ हैं। सरकारी दफ्तरों [रेडिओ, पब्लिसिटी आदि] में नौकरी पाने के अभिलाषी बीसों नौजवान साहित्य के कपड़े पहनकर इसके आगे पीछे चल रहे हैं। नगेन्द्र नगाइच जैसे युवक इसके मित्र हैं। अज्ञेय तो सबसे आगे हैं—फासिस्तविरोधी कांफ्रेंस के स्वागताध्यक्ष वही हैं।

प्रगतिवाद याने रूस का समर्थन। रूस का समर्थन याने फासिज्म का विरोध। फासिज्म का विरोध याने अंग्रेजी राज्य की वफादारी। याने प्रगतिवादी भी—साम्राज्य के वफादार भी : गोरस बेचन हरि मिलन एक पन्थ दो काज।

वह घटना जब कि प्रगतिवाद का यह सुमन-रथ रणव्यूह में फँस गया था— परवर्ती घटना है; सन् ४५ के बाद की। सन् ४६ के प्रारम्भ से ही मैदान खाली होना प्रारम्भ हो गया था। वयस्क, नीति-निपुण तथा व्यवहारकुशल साहित्यकारों ने शीघ्र ही अपने को प्रगतिवाद से मुक्त घोषित कर लिया। पन्तजी के नेतृत्व में 'फ्लोअर क्रास' का क्रम आरम्भ हुआ जो चार-पाँच साल चलता रहा।

गिरिजाकुमार को प्रगतिवाद के क्षेत्र में आए अभी कम ही समय हुआ था। वे अभी नवयुवक ही थे। प्रगतिवाद की चेतना के स्पर्श के पूर्व वे किस गमगीन हालत में थे—इसका आभास 'नाश और निर्माण' के 'नाश' खण्ड की रचनाओं से हो जाता है। प्रगतिवाद के क्षेत्र में उन्हें जीवन की नवीन स्फूर्ति मिली थी। उन्होंने लिखा था :—

आज अपरिचित बल आया है
जीवन भर की थकी हुई मेरी बाहों में।

[नाश और निर्माण—पृष्ठ—४५]

कवि फिर सपनों को देखना प्रारम्भ करता है।[१] शरद की पूरनमासी उसे गुलाबी ठंडक देने लगती है।[२] कमजोरी की [illegible] छूट गई हैं।[३] रे'डयम की छाया में, आधी रात में, चुम्बन-व्यापार [illegible] बचा है।[४] मिलन की जवान रातें खुल गई हैं।[५] कसे हुए बंधन में चूड़ियाँ झड़ने लगी हैं।[६]

आशय यह कि उन्हें जीवन के सुख भोग का नवीन अवसर प्राप्त हुआ— जिससे स्वास्थ्य लाभ कर उन्होंने लिखा :—

मैं अचल, अनत, अजेय हूँ
नीला शिखर एवरेस्ट का

[नाश और निर्माण]

इस अनुभूति के अनन्तर उनमें एक स्वर उठता दिखाई पड़ता है—जो गीत का रूप धारण करता है। इसी बिन्दु से श्री गिरिजाकुमार की उन रचनाओं का युग प्रारम्भ होता है जो प्रगतिवादी या सामाजिक चेतना के काव्य के रूप में जाना जाता है।

१—६ 'नाश और निर्माण', पृष्ठ ५१, ४६, ४१, ५५-५६, ५६, ६६.

इस नवीन भूमिका में प्रवेश करते ही उनके टूटे छन्द जुड़ने लगते हैं। नए छंद आविर्भूत होने लगते हैं। एक नवीन गीत, ताल, लय और संगीत उनके काव्य में उत्पन्न हो जाते हैं। असीम उत्साह, अभिनव संगीत तथा अत्यन्त शक्तिशाली आवेग से आपूरित उनकी कविता हिन्दी काव्य में नई मंजिल बनने की दिशा में आगे बढ़ने लगती है। यह भूमि ही श्री गिरिजाकुमार माथुर के कवित्व की उच्चतम मंजिल का आरम्भ-बिन्दु है। कवि कहता है :—

जन का जीवन गीत बने
उठते स्वर का यह गीत नया
हर चरणों की है चाप नई
हर मंजिल का संगीत नया।

इस भूमिका पर पहुँच कर कवि अनुभव करता है कि संसार की जनता जाग चुकी है और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसने अपना संघर्ष प्रारम्भ कर दिया है। प्राचीन संस्कृति वाले भारत की जनता भी जाग गई है। वह इतिहास के अंधकार को पीछे ढकेल कर बाहर निकल आई है :

संस्कृति के तल की बाँबी से
बन इन्द्रधनुष अनबुझ निशान
इतिहास तिमिर पीछे ढकेल
निकली युग की जनता महान
ये अशुभ पंक के मेघ फटे
उड़ गया भाप बन धुँधियाए
सम्मुख उजले मैदानों में
बढ़ता आग्नेय सर्वहारा

[नाश और निर्माण]

'नाश और निर्माण' के करीब १० वर्ष बाद कवि का अगला संग्रह 'धूप के धान' के नाम से प्रकाशित हुआ। कवि की प्रगतिवादी चेतना इसी संग्रह में विशेष रूप से प्राप्त होती है।

यों तो इस संग्रह की सभी कविताओं का स्वर प्रगतिवादी है—एक कविता 'दिवालोक का यात्री' अपने स्वर की भिन्नता के कारण सग्रह की अन्य कविताओं से मेल नहीं खाती। कविता अत्यंत भावपूर्ण तथा वेदना की गहन अनुभूति की सृष्टि है। इस कविता में कवि ने दिवालोक के एक यात्री का चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें कवि का स्रष्टा स्वयं को अपने भोक्ता से पृथक् कर सम्बोधन करता है। कवि कहता है :—

छोड़ आया तू सुधामय मंजिलों को
भूल से खोए चमकते भूतलों को

× × × ×

एक ही पथ है कि जिसके छोर दो हैं
विष इधर है उधर अमृत, मोड़ दो हैं
तू सुधा के छोर छूकर लौट आया
रह गए विष लोक अंध अछोर जो है
भोग अब अपनी पराजय के फलों को
भूल से खोए चमकते भूतलो को

यही नही इसके कारण दारुण परिणाम से भी वह परिचित है । वह स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि इसका परिणाम यह होगा कि अब तुझे जिन्दगी भर मौन ही रहना पड़ेगा । यह एक प्रकार से कवि की वाणी के अवरोध का स्पष्ट संकेत है । कवि ने अत्यंत मार्मिक शब्दो मे इसकी व्यजना की है :—

मौन अब रहना पड़ेगा जिन्दगी भर
क्योकि तेरा गीत भी अब सो गया है ।
सो गया वह जो हिलाता था दिलों को

इस कविता मे कवि के भावी कवि-जीवन की सम्भावनाओं का बीज निहित था ।

लेकिन श्री गिरिजाकुमार अपने जन कल्याण', 'त्याग' और बलिदान' के विश्वास तथा 'जीत जनमगल की—शोषण अमंगल पर' की प्रबल आस्था की अभिव्यक्ति करते रहते है ।

'धूप के धान' में सन् ४५ से सन् ५४ तक की रचनाएँ संकलित है । 'यह कालक्रम उसकी भाव चेतना के क्रमिक विकास-ह्रास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।

सन् ४५ की फरवरी से आरम्भ होने वाले इस काव्य युग की प्रथम कविता 'भोर : एक लैण्ड स्केप' में कवि कहता है :—

अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है
जन रवि का अग्र प्रकाश चरण
अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर
जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है ।

कवि अनुभव करता है कि उसकी साँसो में तन-मन में कच्ची मिट्टी के ठण्डे-पन का मटयाला-सा हल्का साया' छा गया है। वह अनुभव करता है कि नए युग का आरम्भ होने जा रहा है। सदियों का तिमिर पार कर मानवता आगे आ गई है :—

जीवन की गंग धार
कूल नया पा गई
सदियों के तिमिर पार
मानवता आ गई

इसी भूमिका पर पहुँच कर वह नवीन एशिया के नव जागरण को शब्दों, रेखाओं तथा भावों के रंगों से बाँधने का उपक्रम करता है। एशिया का जागरण' संग्रह की बड़ी कविता है तथा अपने ढंग की अनूठी एवं उत्कृष्ट रचना है। ४४ छंदो में लिखी गई यह कविता अपने में बड़ा केनवस समेटे हुए है। कविता का प्रत्येक छंद भाव तथा कला की सज्जा से मंडित है। प्रारम्भ में कवि एशिया के जागरण की अत्यंत कलापूर्ण शब्दावली में व्यजना करता है—

अंगार बन गया आदि पूर्व
सदियों का झुलसा जम्बुद्वीप,
श्यामल कृतांतजा धरा उठी
लेकर जीवन का अग्निदीप।

एशिया भूखण्ड की प्राचीनता, सांस्कृतिक गौरव तथा एकात्मता को व्यक्त करने के लिए 'आदि पूर्व' तथा 'जम्बूद्वीप' शब्दों की व्यंजना कितनी गहरी है—इसका आभास रस स्थिति' और लोक-हृदय' को जानने वाले विज्ञ पाठक सहज कर सकते है। जिसे व्यंजना से साध्य 'ध्वनि-काव्य' की संज्ञा दी जाती है—वह काव्य यही है। अंगना के सौन्दर्य में लावण्य सदृश जिस अर्थ की ओर ध्वनिवादियों ने संकेत किया है वह अर्थ तथा जिसे लोकहृदय की पहिचान द्वारा भाव के विषय का इस रूप मे लाया जाना कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके—वह साधारणीकरण का कौशल यहाँ संश्लिष्ट रूप में विद्यमान है। लगता है जैसे कविता' कविता नही है वरन् समग्र जम्बूद्वीप की जातियों का संघबद्ध संकल्प हो। भारतीयों के हृदय में तो हर संकल्प के समय यह जम्बूद्वीप और भरतखण्ड आते ही हैं—'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्त्तान्तर्गते।' रस की सत्ता लोक हृदय में ही है और जिस कवि को लोक हृदय की पहिचान है वही रससिद्ध कवीश्वर हो सकता है। आगे भी 'श्यामल कृतांतजा' विशे-

बलों द्वारा कवि ने धरा में शक्ति के रौद्र रूप (काली, भद्रकाली, चामुण्डा) का विधान तो कर ही दिया है, साथ ही उसके हाथ खप्पर के स्थान पर जीवन का अग्निदीप देकर नवीन युग उसके सौन्दर्य बोध तथा क्रान्ति के विधायक पक्षों का संकेत भी किया है। जम्बूद्वीप की प्राचीनता, सदियों से उसका झुलसना [शोषण, पीड़ा, दासता, एवं तज्जन्य स्वातंत्र्य कामना] सभी रूपायित हो जाते हैं।

कविता के प्रत्येक छन्द में सौन्दर्य की ऐसी-ऐसी कलापूर्ण भंगिमाएँ हैं कि यदि उनकी विवेचना प्रारम्भ की जाए—तो एक लघु ग्रन्थ का आकार ले लेगी। अतएव हम इस व्याख्या का लोभ संवरण न कर अपने पाठकों के लिए कविता के कुछ छन्द उद्धृत करते हैं। इन छन्दों में कवि ने सामन्ती सभ्यता की पराजय को जिस कला के साथ चित्रित किया है, वह पाठक स्वयं देखें :—

वे मिट्टी के अविजेय दुर्ग
गढ़, कोट, हवेली रंग महल,
वे राव रावले सामन्ती
धूसर परकोटे बुर्ज अचल
युग मटमैले तोरण फाटक
गोलों से उड़कर धूल हुए
पश्चिम की खाकी आँधी में
नीवें उखड़ीं निर्मूल हुए
बिगुलों में डूब गया गर्जन
बूढ़े तेलास्क नगाड़ों का
देशी पानी सब उतर गया
उन रत्न जड़ी तलवारों का
वे खेल-फुलेलों में डूबी
आधी बेहोश सभ्यताएँ
ढह गईं कागजी महलों सी
घुन लगी खोखली सत्ताएँ
धुंधयारी लाल मशालों का
फानूसों का युग बीत गया
प्राचीन अँधेरे के ऊपर
यह नया अँधेरा जीत गया

इसमें शक नहीं कि साम्राज्यवाद के विरोध में लिखी गई हिन्दी की कुछ गिनी चुनी कविताओं में तो यह एक है ही; हिन्दी कविता की एक अगली मंजिल [राम की शक्ति पूजा के बाद] भी उसमें देखी जा सकती है। कविता अपने ढंग की निराली रचना है और हिन्दी की श्रेष्ठ कविताओं [यथा 'परिवर्तन', 'प्रलय की छाया', 'नई आग', 'दहन पर्व', 'समय-देवता' आदि] के साथ रखी जा सकती है। 'धूप के धान' में कविता अंग-भंग रूप में प्रस्तुत हुई है। अतः काव्य के मर्मज्ञों को उसे हंस की फाइल में पढ़ना चाहिए।

इस कविता में कवि ने हिन्दी काव्य की सम्पूर्ण परम्परा का वेग लेकर विराट् मानवता के महान् संघर्ष को वाणी देने का उपक्रम किया है। अतः उसमें भारत-भारती का आत्मालोचन, कामायनी का मानवतावाद, राम की शक्ति पूजा का ओज और विश्वास अपने संगठित रूप में काव्य तथा संगीत की नवीन सिद्धि लेकर अवतरित हुए हैं। भारतेन्दु युग से सन् १९४६ तक की हिन्दी कविता की उपलब्धियाँ अपने समवेत रूप में इस रचना में दीख पड़ेंगी। कविता का समग्र वैशिष्ट्य उसकी नवीन प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि पर आधारित है। वह दृष्टि जो राष्ट्रीय-जीवन, समाज, इतिहास और संस्कृति को एक नूतन संदर्भ में प्रस्तुत करती है। जिसमें हमारी सहस्राब्दियों-व्यापी संस्कृति युग के नवीन भाव बोध को ग्रहण कर अभिनव दीप्ति एवं कान्ति के साथ अवतरित होती है। वह प्राचीन का आख्यान ही नहीं—वरन् प्राचीन का युग-चेतना के संदर्भ में नूतन विधान है। और यह सब चित्रित हुआ है बड़ी यथार्थवादी शैली में। सामाजिक यथार्थ के इतने दिक्कालव्यापी भाव बोध को सौन्दर्य की इतनी अनूठी भंगिमाओं में चित्रित करनेवाली यह कविता आज भी अपने ढंग की बेजोड़ रचना है। कोई सानी नहीं। कोई मुकाबला नहीं। एकदम अप्रतिम। अप्रतिद्वन्द्वी।

इसका आशय यह नहीं हम ऐसा कहकर अन्य हिन्दी कवियों की कोई अवमानना कर रहे हैं। नहीं, वह हमारा भाव नहीं है। हिन्दी में अन्य कवि हैं। उनकी अपनी कविताएँ हैं। उनका अपना ढंग और अपनी विशिष्टताएँ है। और ऐसी कविताएँ भी हैं जो अपने ढंग की सर्वथा निराली कृतियाँ हैं। हमें कवि सुमन की ऐसी अनेक कविताएँ सहसा स्मृत हो रही हैं जो अपने ढग की सर्वथा निराली, बेजोड़ और उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। किन्तु साम्य निरूपण हमारा अभीष्ट नहीं है। अस्तु, मुख प्रतिमुख गर्भ, अवमर्ष तथा निर्वहण से युक्त यह कविता अपने विशिष्ट भाव एवं शिल्प के कारण अपने ढंग की अद्वितीय कृति है।

लेकिन यह भी कम संयोग की बात नहीं कि यह कविता ही गिरिजाकुमार के काव्य का चरम बिन्दु है। यहीं से उनके काव्य की कैटेस्ट्राफी प्रारम्भ हो

आती है। और यह कहना अन्यथा न समझा जाएगा कि गिरिजाकुमार के काव्य में यह केटेस्ट्राफी काफी लम्बी दूर तक फैली हुई है—जो 'शिला पंख चमकीले' [कवि का 'धूप के धान' के बाद का १९६१ में प्रकाशित संग्रह] में 'व्यक्तित्व का मध्यांतर' नामक कविता पर आकर समाप्त होती है।

प्रस्तुत काल खण्ड को हम अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में निम्नानुसार विभक्त कर सकतें हैं :—

प्रथम भाग मई १९४६ से मार्च १९४८ तक
द्वितीय भाग, मई १९४८ से जनवरी १९५२ तक
तृतीय भाग, जनवरी १९५२ से नवम्बर १९५६ तक

प्रथम भाग के अन्तर्गत धूप के धान की 'पहिये' से लेकर 'बरफ का चिराग' तक की कविताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। द्वितीय भाग मे 'आग और फूल' से लेकर 'मिट्टी के सितारे' [धूप के धान] तक की रचनाएँ तथा तृतीय भाग मे ऋतु चित्र' [धूप के धान] से लेकर 'व्यक्तित्व का मध्यांतर' [शिला खण्ड चमकीले] तक रचनाएँ समाविष्ट की जा सकती हैं।

'विश्वास की साँझ' शीर्षक कविता कवि के समाप्त होने की सूचना देती है।

इसके बाद १९६८ में जो संग्रह प्रकाशित होता है—वह है—'जो बँध न सका'। इस संग्रह से प्रतीत होता है कि कवि अब मौन हो गया है। उसका गीत सो गया है।

यहाँ हम कवि की केटेस्ट्राफी का किंचित् परिचय प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम भाग मे पहिये, प्रौढ़ रोमांस, शाम की धूप, दो चित्र, महाकवि, पन्द्रह अगस्त, सावन के बादल, नई दिवाली, सायंकाल, बरफ का चिराग नामक १० कविताएँ आती है।

सभी कविताएँ सामाजिक भाव वस्तु को लिए हुए है। 'पहिये', इतिहास के सतत गतिमान पहियो के प्रतीक है। कवि कृषि युग से लेकर वर्त्तमान तक का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए अंत में कहता है :

इसलिए कि रुकता नहीं कभी गति का पहिया
अविरल चलता विकास का क्रम
वह पास लिए आता है मनुज समाज नया
जब दुख की सत्ता मर जाएगी
पीले बासी फूलों सी।

'ग्रीक रोमांस' वह 'मेरे विरही युवा मित्रवर' को सम्बोधन कर वह जीवन के यथार्थ का आग्रह करता है।

'शाम की धूप' यथार्थवादी शैली की सुन्दर रचना है, जिसमें सायंकाल दफ्तर से लौटते हुए बाबुओं का बड़ा सुन्दर एवं मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। यथार्थ के नवीन धरातल तथा नवीन भाववस्तु के बोध से युक्त यह कविता कवि की गहन अंतर्दृष्टि का परिचय देती है।

'दो चित्र' कविता में एशिया के दोनों छोरों को एक दृष्टि में बाँधकर कवि ने अंत में लिखा है :—

> इसलिए कि जो इंसान मिला था मिट्टी में
> वह मिट्टी का तूफान उठाता आता है

'महाकवि' शीर्षक कविता निराला से सम्बंधित है। 'पन्द्रह अगस्त' कविता में कवि जीत की रात में सावधान रहने की चेतावनी देता है। क्योंकि कवि जानता है कि 'शत्रु गया लेकिन उसकी छायाओं का डर है'। पंद्रहह अगस्त को कवि स्वाधीनता की लड़ाई की एक मंजिल मात्र मानता है। व कहना है 'ऊँची हुई मशाल हमारी आगे कठिन डगर है'। 'सावन के बादल कविता एक सुन्दर गीत है। इसी प्रकार 'नई दिवाली' भी एक गीत ही है। 'सायंकाल' शीर्षक रचना गाँधी जी की मृत्यु से सम्बंधित है। अमृतराय के अनुसार गाधी जी पर लिखी गई दो चार अच्छी कविताओं में से यह एक है। अगली कविता 'बरफ का चिराग' है जो काश्मीर में उठे जन आंदोलन से सम्बंधित है। इस काल में कवि की यह एक मात्र कविता है जो जन आंदोलन की पीठिका पर रचित है। काश्मीरी जनता के उठ खड़े होने का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

> सूरज सोने का फूल
> चाँद हिम का चिराग
> इस दूध धुली मिट्टी में
> अब लग गई आग
> बन कर शमशीर उठी जनता
> बजता पर्वत का नक्कारा
> नदियाँ बिजली बन दौड़ पड़ीं
> हो गया लाल ध्रुव का तारा

उपर्युक्त सभी रचनाएँ प्राय: उसी भाव वस्तु की व्यंजना करती हैं—जो एशिया के आवरण में अंकित हुई हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि उसमें नई

विकासभूमियों का साक्षात्कार नहीं होता। जिसका कारण है विषय-वस्तु का, जो कि भाव का प्रधान आलम्बन है—अवरोध। कवि जन संघर्ष से अपने को नहीं जोड़ पाता फलतः उसकी विषय वस्तु सीमित हो जाती है। अतएव भाव के लिए उपयुक्त आलंबन [यथा पन्द्रह अगस्त, गांधी हत्या अथवा काश्मीर में जन आन्दोलन] मिल जाने पर वह अपने हृदय-गत भावावेश को कलापूर्ण कौशल से प्रकट करता है, लेकिन काश्मीर को छोड़कर शेष भारत में चल रहे जन संघर्ष के सम्बन्ध में मौन रहना उसे लाजिमी है। लिहाजा कवि की विषय वस्तु की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। विषय वस्तु की मर्यादा के साथ भाव वस्तु में भी किंचित् परिवर्त्तन स्वाभाविक होता है। अतएव मूलभूत भाव चेतना प्रगतिवादी होते हुए भी कवि के व्यक्तित्व में तीव्र आवेश की कमी हो जाती है। इसकी क्षति पूर्ति काव कला के परिष्कार द्वारा करना चाहता है। फलतः उसकी कला में अप्रस्तुतों की प्रचुरता प्रारम्भ होती है। 'सूरज सोने का फूल चाँद हिम का चिराग' इसी प्रकार के अप्रस्तुत के विधान के लिए नहीं वरन् मात्र चमत्कृति की सृष्टि के लिए आविर्भूत हो गए है। यद्यपि इस भाग में कवि की दृष्टि बाहर समाज पर ही टिकी हुई है।

दूसरे चरण मे कवि की दृष्टि अतर्मुख होना प्रारम्भ होती है। कुछ रचनाओं में यह दृष्टि सर्वथा भीतर की ओर पहुँचती है और कुछ रचनाओं में जीवन की ओर। संयोगात् कवि इसी बीच अमेरिका की यात्रा करता है जहाँ उसे अपनी दृष्टि बाहर फैलाने का अवसर मिल जाता है। यह काल मई ४८ से प्रारम्भ होकर जनवरी ५२ तक जाता है।

सन् ४८ से ही कवि कठिन परिस्थितियों में फँसा हुआ अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि मिट्टी की जड़ें कमजोर है। यह व्यक्ति और समाज का मंथन युग है। उसकी देह बेदी है। लेकिन पतन के हाथ उसके मन को भी बाँधने के लिए आगे बढ़ते है। विष का फेन फैलता ही जा रहा है। और यहीं से उसकी पराजय प्रारम्भ होनी है :—

यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मंथन काल है
संक्रांति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला
बंदी हुई है देह
मन को बाँधने बढ़ते पतन के हाथ हैं
है फेन विष का फैलता ही जा रहा।

इसी कारण से वह 'अगली फसल की राह' देखना प्रारम्भ कर देता है। तथा अपने 'मधुतु रंग लाने के विश्वास को सुरक्षित' रखना चाहता है।

'रात हेमन्त की'—जो एक गीत है, के बाद 'धूप का कण' शीर्षक कविता में वह पुनः उसी भावना को दुहराता है :—

इसलिए जलते रहेंगे
उस समय तक आग को बुझने न देंगे

इसके बाद 'मुहूर्त ज्वलित' वह अत्यन्त गहराई के साथ अपने भीतर झाँकने का प्रयत्न करके अनुभव करता है :

मौन है वातावरण
ज्यों मौन है मन
मौन है वह सिंधु स्वर मेरा पुराना
दब रही आवाज मन की देह की भी
इस उदासी के धुएँ मे
संधि युग के बादलों में
दब गया ध्वनि का प्रभंजन
टूटती वाणी अकेली
ज्यों अकेली लहर आकर
टूट जाती पत्थरों में।

× × × ×

कविता के अन्त में वह सोच कर रह जाता है :

संधि युग के पत्थरों पर
एक गहरी गूंज बनकर
उठ रहा संघर्ष का स्वर
तू धुआँ बनकर रहेगा और कब तक
एक क्षण जल जा भभक कर।

इसी समय कवि अमेरिका चला जाता है और उसकी अंतर्मुख अभिव्यक्ति बाह्य रूप धारण कर प्रकट होती है। 'न्यूयार्क की एक शाम', मैन हैटन', तथा 'न्यूयार्क में फॉल' ये तीन कविताएं अमेरिका के जीवन और राजनीति पर कवि की भावात्मक प्रतिक्रियाएं हैं। अमेरिका का जीवन और राजनीति उसकी भावात्मकता का उपयुक्त माध्यम है और उसके द्वारा अपनी संचित भावराशि को व्यक्त करने का अवसर पा जाता है। 'चाँदनी भरता' तथा 'सिन्धु तक

की रात' सामान्य भाव चित्र हैं। इसी भूमिका पर 'दिवालोक का यात्री' शीर्षक कविता हमें मिलती है। कवि एक दिवालोक के यात्री को सम्बोधन करके कहता है, तू सुधामय मंजिलों को छोड़ आया है। तू ने भूल से अपनी चमकती हुई जमीन खो दी है। तेरे सामने साफ रास्ता था। अन्धकार हटा हुआ था। जिन्दगी के बन्द घेरे मिट गये थे। सिंधु फैले थे। नए नभ उभरते थे, आदि। कवि कहता है कि तू पिछले सम्बलों को छोड़ कर चल पड़ा।

कविता में कवि की तीव्र अंतर्व्यथा की व्यंजना हुई है। उसका स्रष्टा उसके भोक्ता से ऊपर उठकर एक तटस्थ आत्म-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत कविता कवि-भविष्य का बीज है। यहीं से टूटना प्रारम्भ होता है।

अपनी इसी मनःस्थिति की व्यंजना वह 'याज्ञवल्क्य और गार्गी' में भी करता है। तभी १ जनवरी ५२ को वह इस मनःस्थिति को भूलकर नववर्ष की कामना करता है :

> और खलियान की नई जाजम पर
> गाड़ियाँ हर बरस की आएँ भरी
> हाँक कर लाएँ जिन्हें
>   चाँद सूरज के बीरन
>   तब उगें रोज
>   नए खेत
>   नदी के तोरन

आगे मिट्टी के सितारे' शीर्षक कविता में छह: रुबाइयाँ है। सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर सम्भवत: कवि का यह अन्तिम वक्तव्य है। जिसमें इंसानी विजय और नए समाज के निर्माण की शक्त और विश्वासपूर्ण कामना व्यक्त की गई है।

यहीं से कवि की केटेस्ट्राफी का तीसरा चरण प्रारम्भ होता है। प्रथम चरण में उसकी दृष्टि सामाजिक जीवन और उसके संघर्षों पर थी। द्वितीय चरण में वह पहले अंतर्मुख होकर बहिर्मुख होती हुई अपने नाश का संकेत कर जाती है। तृतीय चरण में यह दृष्टि वस्तु और कला के नए-नए आयामों में अपने को व्यक्त करने के लिए नाना रूप और आकार धारण करने का प्रयत्न करती हुई व्यक्तित्व के मध्यान्तर तक पहुँचती है। इस वर्ग के अंतर्गत कवि की लगभग ५० कविताएँ आती हैं। तीन ऋतु चित्र सहित धूप के धान की अंतिम १७

कविताएँ तथा 'शिलापंख चमकीले' की 'विश्वास की साँझ', 'चिरंतन विद्रोही', 'नई प्रात की खोज' को छोड़कर पूरी ३१ कविताएँ—इन कविताओं की भावधारा का परिचय संक्षेप ही हम दे सकेंगे। इन कविताओं में कवि का मूल स्वर तो प्रगतिवादी ही रहा है किन्तु अत्यन्त आवरित रूप में। एतदर्थ कवि ने तीन प्रकार के प्रयत्न किए है। अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए कभी तो वह—१. लोक जीवन के किसी तत्व को ग्रहण करता है, कभी २. इतिहास के आवरण में जाने का प्रयत्न करता है और ३. कभी चमत्कारिक शैलियों की सहायता ग्रहण करता है। कविता में वैज्ञानिक चेतना नाम की चीज जिसका सिलसिला अमरीकी जीवन-सम्बन्धी कविताओं से शुरू बतलाया गया, इधर अधिक बढ़ जाता है।

इस मंजिल पर पहुँच कर कवि अनुभव करता है :

आसन पड़े ही रहे
टूट गईं मूर्तियाँ
बुझी अध-बुझी जली
पाँत बड़ी वर्षों की

इस भूमिका पर आकार वे आस्था और विश्वास को तिलांजलि देकर नमस्कार करते हुए अपनी पराजय निःसंकोच रूप से स्वीकार कर लेते हैं।

कवि के काव्य में व्याप्त दीर्घकालिक 'केटस्ट्राफी' का यह अत्यंत संक्षिप्त—परिचय है; जो यथासम्भव वस्तुपरक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

इसी भूमिका पर कवि का नया संग्रह जो बँध नहीं सका' [१६६८] प्रकाशित होता है। इस संग्रह में कवि का मूर्च्छाग्रस्त स्वरूप देखने को मिलता है। थकान है, दृष्टि धुँधली हो गई है, निराशा घनीभूत हो उठी है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कवि उन जीवन-दर्शनों का शरणागत हो गया है जिनका वह आजीवन विरोध करता रहा। 'सहज मन का बिम्ब' शीर्षक एक अन्यन्त लघु-कविता प्रस्तुत संग्रह में व्याप्त कवि की मनस्थिति का बोध कराने के लिए यथेष्ट है कविता इस प्रकार है :

अक्स शीशे में हुआ जो चूर
फिर कैसे बनेगा
आइना चाहे न टूटे
बिम्ब लेकिन फिर न कोई भी पड़ेगा।

स्पष्ट है कि कवि ने अपने 'कवच-कुंडल' भले ही नियति-माता को दान कर दिए हों—लेकिन कवि मानस में किसी दूसरे बिम्ब की कल्पना सम्भव नहीं है। वह अपने टूटे विश्वास और खंडित आस्था में ही अपने को पाता है। 'कोणार्क पर तीसरा प्रहर' शीर्षक रचना इस कथन की साक्षी है। वस्तु स्थिति तो यह है कि विश्वास और आस्था ही उसका व्यक्तित्व था। और उसके खंडित होने के साथ ही उसका व्यक्तित्व भी खंडित हो जाता है। प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं में इस खंडित व्यक्तित्व की ही सर्वत्र झलक मिलती है। 'असिद्ध की व्यथा' नामक कविता में इस विघटन की अत्यंत सुन्दर झाँकी मिलती है। तर्क और संस्कार का अनिर्णय देखिए :—

> एक ओर तर्क है
> एक ओर संस्कार
> दोनों तूफानों का
> दुहरा है अंधकार
> किसको मैं छोड़ूँ
> किसको स्वीकार करूँ
> ओ मेरी आत्मा में ठहरे हुए इंतजार।

प्रतीत होता है कि संस्कार गहरा है। 'शिलापंख चमकीले' में उसने कहा था कि उसकी आग 'राख' हो गई। वह 'आग', लगता है, शेष नहीं हुई। 'आग' जो उसने 'यत्नों से बचा रखी थी'। वह जो अग्नि बीजों को सतत बोती रही'। जिसके सम्बंध मे कवि को प्रतीति हुई थी कि वह 'बोझ' है, लगता है कि वह 'आग' अभी शेष नहीं हुई। हाँ, अबल अवश्य हो गई है। संग्रह की अंतिम कविता में कवि कहता है :—

> एक आग है जो धधक रही है
> एक लपट है जो रुक नहीं पाती
> एक शब्द है जो घुमड़ रहा है
> एक गंध है जो बँध नहीं पाती

कवि की यह व्यथा नई नही है—पुरानी है। 'धूप के धान' से यही भाव-धारा चली आ रही है। आज भी वह दुखी है। फर्क यही है कि धूप के धान में उसकी ग्लानि और वेदना नवजात थी, तरुण थी। गहन थी। आज सुदीर्घ है, जर्जर है। धूप के धान में कवि ने लिखा था

> बीतती ही जा रहीं घड़ियाँ सुनहली
> आयु के सबसे अधिक उज्ज्वल चरण की

नए संकलन में कवि कहता है :—

चुक गई सारी उमर की चाँदनी ।

'अंधकार' की प्रतीति उसकी एक सी है। फर्क इतना ही कि धूप के धान में उसे 'सवेरा' समीप नजर आता है। 'धूप के धान' तथा 'जो बँध नहीं सका' दोनों के दो-दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

अंधकार की प्रतीति

धूप के धान—

(१) है आधी रात अर्ध जग पड़ा अँधेरे में ।

(२) दीपक, तेरे नीचे घिर रहा अँधेरा है ।

(३) चाँदनी को दिन समझकर बोलते है काग ।

जो बँध नहीं सका—

(१) गाँव पर अब भी अंधेरी रात है ।

(२) निपट खोखली है गुफा यह घट अँधेरा है ।
बे पहचाना अंधकार भीतर घुट गया है ।

जैसा कि कहा गया 'धूप के धान' मे प्रकाश और सवेरे की प्रतीति समीप मालूम पड़ती थी—अब दूर मालूम पड़ती है। उदाहरण :—

धूप के धान—

(१) इंसान स्वयम् बनकर आ रहा सवेरा है ।

(२) दो कदम रह गया स्वर्ग चढ़ाई अंतिम है ।

जो बँध नहीं सका—

(१) बढ़ रही है रात दूर विहान है

(२) रोशनी पास नहीं आती है हर बार
अपनी जगह से हट जाती है

लेकिन इस सबके बीच उसकी परेशानी वही है :—

चाँदनी की रात है तो क्या करूँ ।
जिन्दगी में चाँदनी कैसे भरूँ ?

'धूप के धान' और 'जो बँध नहीं सका' के कवि और उसकी भाववस्तु में कोई बुनियादी फर्क नही है। सिवा इसके कि धूप के धान' की रचना के दिनों में वह 'उम्र की सौ बनी मीनार पर तिहाई मंजिलें ही पार कर पाया था' लेकिन अब 'थाल सन से उजले हैं चाँदनी' तक पहुँच गया है।

प्रस्तुत संदर्भ में वे समस्त स्वर जो इस संग्रह [जो बँध नहीं सका] में सही तौर पर कवि के संवादी स्वर से विलग प्रतीत होते हैं—वस्तुतः उसी मूल स्वर की नाना प्रतिकृतियाँ है—जो अपने समवेत रूप में कवि के संवादी स्वर की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं।

हाँ, इतना अवश्य है कि इस संग्रह में बिम्ब कुछ धुँधले तथा प्रतिबिम्ब कुछ गहरे दिखाई पड़ते हैं। भविष्यपृष्ठ' तथा 'साक्षात्कार' शीर्षक रचनाओं की भाववस्तु का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करेगा। भविष्य पृष्ठ रचना इस प्रकार है :—

उदास अंधेरे के
अनमाँगे छोर पर
सहसा मिली
दृष्टि के रोमांच पार
उठकर खिची हुई
एक लाल तीर सी
नयी कली केली की
और लगा
कि कहीं
कुछ बदल गया।

'समाधान हीन अखण्ड बासीपन से' ऊबे हुए कवि को भी 'भविष्य पृष्ठ' पर 'दृष्टि के रोमांचपार' किन्तु 'उदास अँधेरे के अनमाँगे छोर पर' 'उठकर खिची हुई एक लाल तीर सी नयी कली केली की देखने को मिल जाती है और उसे अनुभव होता है कि कहीं कुछ बदल गया। इससे कवि के प्राणों की प्रबल परिवर्त्तनाकांक्षिणी इच्छा व्यंजित हो जाती है। साक्षात्कार' शीर्षक रचना के बिम्ब इस रचना से अधिक गहरे है। देखिए, कवि को धारा से शिकायत है :—

सबसे विफलता छिपा
अपने ही रक्त का
एक लाल फूल बना
धारा में डाल दिया
—धार उसे छोड़ गई

यह एक प्रतीति है कवि की। प्रस्तुत विवेचन के आधार पर हम सहज ही कह सकते है कि रात भर जागकर अंधेरे में मशाल लेकर

चलनेवाले सिपाही को थकान आना स्वाभाविक होता है। वह कब तक 'समय की कोर सजने' की प्रतीक्षा करे। बैठ भी सकता है, गिर भी सकता है। हमें कवि बैठा हुआ तो प्रतीत होता है पर गिरा हुआ नहीं। इसलिए कि अभी हिन्दुस्तान का यह विश्वास खंडित नहीं हुआ है—

दो कदम रह गया स्वर्ग
लड़ाई अंतिम है।

अतः श्री कैलाश वाजपेयी का यह कथन सर्वथा निस्सार है कि श्री गिरिजा कुमार को उन्हीं प्रतिमानों से नापा जा सकता है जिनसे श्री सुमित्रा-नंदन पंत को।

क्या कोणार्क के सूर्य मंदिर में सूर्येतर किसी अन्य देवता की स्थापना सम्भव है? और यदि कोणार्क में सूर्येतर किसी अन्य देवता की प्रतिमा-स्थापना संभव नहीं है तब फिर गिरिजा कुमार के काव्य में श्री कैलाश वाजपेयी अन्य देवता की प्रतिमा क्यों कल्पित करना चाहते हैं? कोणार्क का मंदिर चाहे अधूरा रहा हो, चाहे खण्डित हो गया हो—वह मंदिर सूर्य का है। और गिरिजाकुमार का काव्य भी कोणार्क ही है, किसी सूर्य का ही मंदिर है।

लेकिन इसका आशय यह नहीं कि गिरिजाकुमार का काव्य उस भूमिका पर पहुँच गया है जिसकी चर्चा सूर, तुलसी और कबीर के संदर्भ में की गई है। नहीं, गिरिजाकुमार का काव्य अभी उस मंजिल तक नहीं पहुँचा है। पथ में है, और यह बहुत-कुछ कवि पर अवलंबित है कि वह अपने कवित्व को किस भूमिका पर छोड़ जाना पसंद करेगा।

श्री गिरिजाकुमार के काव्य का यह परिचय एक विशिष्ट संदर्भ में उपस्थित करना पड़ा है। लेकिन एक अन्य संदर्भ इससे भी अधिक गहन है। वह इस प्रकार है।

गिरजाकुमार का कथ्य क्या है?

डॉ० नगेन्द्र ने कवि के काव्य पर विचार किया है। उनके अनुसार कालान्तर में, प्रचार का कोलाहल शान्त होने पर, नई कविता का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जाएगा, तो उसके निर्माताओं में गिरिजाकुमार का स्थान अन्यतम होगा। डॉ० नगेन्द्र ने यह भी लिखा कि 'मेरा विश्वास है कि वर्तमान युग के छन्द-लय-शिल्पियों में उनका स्थान मूर्धा पर रहेगा।

'यही बात उनकी बिम्बयोजना और अभिव्यंजना के विषय में कही जा सकती है।'

इतना सब होते हुए भी जब कवि कहता है :—

उम्र सारी कटी
बिम्ब टुकड़े संजोते
समय कट गया
हर कदम पर अहं
टूट कर बह गया
स्वप्न आता रहा
अक्स उतरा नहीं
यत्न पीड़ा यही
जिन्दगी बन गई

तब जरा सोचने को विवश होना पड़ता है कि आखिर वह अक्स क्या है जिसे उतारने की हरचंद कोशिश कवि ताजिन्दगी करता रहा —पर जो उतर नहीं पाया। क्योंकि कवि की इस स्पष्टोक्ति के बाद यही स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि कवि की कविता में प्रयुक्त बिम्ब टुकड़ों से वह अक्स ही महत्वपूर्ण है जिसको उतारने के प्रयत्न में कवि 'नई कविता' के निर्माताओं' में 'अन्यतम', वर्तमान युग के छंद-लय शिल्पियों' में 'मूर्धा' स्थान का अधिकारी हो गया है। सहज ही प्रश्न होता है कि वह 'अक्स' क्यों नहीं उतर पाया ?

इस सम्बन्ध में विचार करने पर प्रतीत होता है कि कवि को बंधनों में काव्य-रचना करना पड़ी है। सन् १९४८ से ही उसकी वाणी घुटनी प्रारम्भ होती है। देखिए :—

मई १९४८

(१)
सुनसान की आवाज
आती ही रही नेपथ्य से
जो निगल जाना चाहती थी
जिन्दगी के गीत को

(२)
बंधी हुई है देह
मन को बांधने बढ़ते पतन के हाथ हैं

जनवरी १९४९

(१)

नित नए-नए वक्तव्य के जो नया चेहरे
ओढ़कर रंगीन वादों के लबादे
अक्स जिनके
शीश महलों से उतरते नित्य
ठंडे टाइपों की सीढ़ियों से
सब्ज बागों को दिखाकर
हर जगह डेरा जमाते
चेतनाओं को दबाने
दूर करने दिन नई दुनिया नए इंसान का।

६ अप्रैल १९५०

मौन है वातावरण
ज्यों मौन है मन
मौन है वह सिंधु स्वर मेरा पुराना
दब रही आवाज मन की देह की भी

× × ×

संधि युग के बादलों में
दब गया ध्वनि का प्रभंजन
टूटती वाणी अकेली
ज्यों अकेली लहर आकर
टूट जाती पत्थरों से ।

और तभी एक घनीभूत निराशा जन्म लेती है । कवि कहता है—

भूले हम आनंद रंग
जीवन रस का विश्वास
तन में तेज धूप वर्षा की
मन में साँझ उदास
उम्र सलोनी ठिठके सुमन विकास-सी
मेघ दबे उजियाले के आभास-सी

× × ×

जिन्दगी का महल खण्डहर हो गया है
रात कोई आँसुओं से धो गया है
उम्र सारी कटी
बिम्ब टुकड़े संजोते
अक्स उतरा नहीं
यत्न पीड़ा रही
जिन्दगी बन गई

× × ×

दिखता नहीं है कुछ
आँखें कहीं ओर है
टूटती नहीं है दर्द दुःख की घुमेर यह
झूठ सभी लगता है
सच है सिर्फ अंधकार
गति की अखण्डता।

फिर यह स्थिति केवल गिरिजाकुमार के ही काव्य में नहीं है—वरन् स्वातंत्र्योत्तर समस्त हिन्दी काव्य में समान रूप से विद्यमान है। गिरिजाकुमार चूंकि 'नई कविता' के प्रतिनिधि कवि हैं, अत उनके काव्य में वह पूरे वेग से प्रतिबिम्बित है

छायावाद की मीमांसा करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है : "राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असंतोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखं अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान अंतर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थी। स्वप्नों और निराशा के इन छायाचित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।"

छायावाद—के सम्बंध मे प्रस्तुत कथन कहाँ तक उपयुक्त है यह दूसरी चीज है—लेकिन राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन और रचनात्मक साहित्य के पारस्परिक सम्बंध का अनुमान इससे होता है। अंततः साहित्य प्रतिबिम्बक सत्ता के रूप में ग्रहण किया जाता है। वह हमारे समाज का ही प्रतिबिम्ब होता है। सामाजिक परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया में ही वह जन्मता है।

फिर यह क्या स्थिति है? १६४७ के बाद हमारे साहित्य में यह क्या आविर्भूत हुआ? कहा जाता है कि इस समय हमारा देश आजाद हुआ। देश की आजादी के बाद तो हमारे साहित्य में एक शक्तिशाली उत्साह का भाव

आविर्भूत होना चाहिए था। देश के रचनात्मक विधान का भाव, निर्माण का भाव अपेक्षित था। लेकिन दिखाई यह पड़ता है कि हमारा सारा साहित्य एक प्रकार से पंगु हो गया। १६५०-५१ में स्व० बाबू गुलाबराय जी तथा पं० उदय शंकर भट्ट ने इस समय साहित्य में आए गतिरोध की ओर ध्यान भी आकृष्ट किया था। खेद है कि प्रस्तुत लेखक भी अपने इन पूर्वजों के कथन की गम्भीरता को उस समय महसूस नहीं कर सका था। वरन् एक जोश में उसने इस विचारणा का प्रतिवाद भी किया था। लेकिन इधर पिछले २० वर्ष के हिन्दी साहित्य पर दृष्टि डालने पर तो बाबूजी और भट्टजी की बात ही अधिक युक्तिसंगत मालूम पड़ती है। १६४७ के बाद हमारे साहित्य में एक प्रबल नैराश्य, अवसाद, वेदना, पीड़ा का ही भाव आविर्भूत हुआ और हमारे कविगण अंतर्मुखी अभिव्यक्ति की ओर ही अग्रसर हुए।

हम देखते है कि १९४७ के पहिले जो कवि अत्यंत शक्तिशाली, प्रेरणाप्रद तथा जीवन्त साहित्य की अभिसृष्टि कर रहे थे वे निराशापूर्ण अवसाद के स्वरों की सर्जना करने लगे हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर ही—जो १६४६ में लिखते थे :–

> मुड़ गए समय के चपल चरण
> उठ रहा क्रांति का महाज्वार
> लो संघ शक्ति का खड्ग उठा
> होता है अब अंतिम प्रहार

वही गिरिजाकुमार माथुर १६५१ में लिखते हैं :—

> कल थे हम कुछ बन गए आज अनजाने हैं।
> सब द्वार बंद टूटे सम्बंध पुराने हैं
> हम सोच रहे यह कैसा नया समाज बना
> अब अपने ही घर में हम हुए विराने हैं।

और बात केवल गिरिजाकुमार की नहीं है। सुमन की स्थिति भी यही है :

१६४६	१६४७ के पश्चात्
उठो उठो मेरे शिव तांडव नृत्य करो कुहराम मचाओ कंकाल के अस्थि शेष पर खड़े विश्व साम्राज्यवाद की उठो ईंट से ईंट बजाओ	हम बहता जल पीने वाले मर जायेंगे भूखे प्यासे कहीं भली है कटुक निबोरी कनक-कटोरी की मैदा से ?

क्या कारण है इसका ? स्वाधीन कहे जानेवाले भारत में यह क्या हो रहा है ? कवि की वाणी अवरुद्ध है। कलाकार की कला पर बन्धन है। क्या प्रजातन्त्र में भी कवि और कलाकार की यह अवस्था हो सकती है ? व्यक्ति की स्वतंत्रता ! अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता ! क्या देश मूर्धा-स्थानीय कवियों, साहित्यकारों और कलाकारों को भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है ? या उनके मन को बाँधने के लिए भी पतन के हाथ आगे बढ़ते हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार गिरिजाकुमार मूर्धा-स्थानीय 'अन्यतम' स्थान के अधिकारी कवि हैं। गिरिजाकुमार के अनुसार उनके मन को बाँधने पतन के हाथ आगे बढ़ते है। उनका पुराना सिंधु स्वर मौन हो गया है। सन्धि युग के बादलों में ध्वनि का प्रभंजन दब गया है।

जिस देश के 'मूर्धा' स्थानीय कवि को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं है, जिस देश के कवि अपने को रथ का टूटा पहिया' कहते हैं, रिरियाता कुत्ता कहते हैं, मणिहीन सर्प कहते है—क्या वहाँ सचमुच व्यक्ति स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य है ? जहाँ कवि कहते हैं 'हम चूहे हैं, हम चूहे हैं", 'हम बौने हैं, हम बौने हैं"; "सपने टूट गए जैसे भुँजा हुआ पापड़" कोई कहता है 'टूटा हुआ आदमी'। क्या है यह सब ? क्या हमें प्रतीक, शिल्प और बिम्ब समझाए जा रहे हैं ? कितने पेस्तरनाक हैं हिन्दुस्तान में ? प्रजातंत्र में पेस्तरनाक ! स्वाधीनता के बाद लिखा गया हिन्दी साहित्य पेस्तरनाक।

क्या कारण है ? कौन सी परिस्थितियाँ हैं जो हमारे राष्ट्र की रचनात्मक शक्ति का गला घोंट रही हैं ? क्या साहित्य के अध्येता और अनुसन्धाता को इस प्रश्न पर विचार करना अपेक्षित है ? क्या इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर बिना विचार किए ही—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का, गिरिजाकुमार का और नई कविता का अध्ययन पूरा किया जा सकता है ?

छायावाद के आविर्भाव की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने ब्रिटिश राज्य की अचल सत्ता की चर्चा की है। लेकिन गिरिजाकुमार और प्रयोगवाद की चर्चा करते समय डॉ० नगेन्द्र इस प्रश्न पर विचार नहीं करते।

आखिर यह कौन-सी अचल सत्ता है जिसने हमारी रचनात्मक शक्ति का गला घोंट दिया है। नए युग का अध्येता इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना आगे नहीं बढ़ सकता। और उसी के साथ जुड़ा हुआ है इस देश के भविष्य का प्रश्न। पिछली पीढ़ी के देश भक्त कवियों के टूटे हुए स्वप्न, खंडित विश्वास, बिखरी हुई आस्थाएँ। तभी हमें पता चलेगा कि जब रोम जल रहा था तब नीरो बाँसुरी बजा रहा था। गिरिजाकुमार का काव्य तो एक प्रतीक है। कोणार्क है जो एक वहशी हमले की कहानी कह रहा है।

प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी

'प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी' हिन्दी के विख्यात कवि श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की नवीन कविताओं का अभिनव-संकलन है। अट्ठावन कविताओं-वाले इस संकलन मे पहिली बार कवि संवेदना के ऐसे धरातल को स्पर्श करने का प्रयत्न करता है—जो आज तक प्रायः अछूता रहा है। ये संवेदनाएँ कौन सी-हैं—इन्हे पहचानने के लिए कवि के काव्यलोक की थोड़ी-सी यात्रा आवश्यक होगी।

संकलन की पहिली कविता है—चुप रहो। ऐसा लगता है कि कवि अपने सृजन से थक गया है, ऊब गया है। उसका मन, मानो फिर गया है। मन की इस दारुण विरक्ति का कारण क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'अपने' और युग के 'सृजन' से संतुष्ट नहीं हो पाया। जिसका कारण कवि के शब्दों में ही इस प्रकार है :

> बिन उगे ही जल गयी अभिव्यक्ति अपने बीज में
> चुप रहो! ओ प्रेरणा के सम्पुटित अक्षर अभी।

यह एक यथार्थ है जो कवि अंचल के काव्य की ही वास्तविकता नहीं है, वरन् स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता का विडम्बनापूर्ण आख्यान है। स्वाधीनता के आगमन के पूर्व हिन्दी की कविता उत्साह और वीर भावना से प्रेरित होकर जीवन के प्रखर संघर्ष, आशा, आकांक्षा और कर्मेच्छा की व्यंजना कर रही थी। सन् १६४६ की हिन्दी कविता पर नजर डालें तो दिखाई पड़ेगा कि कवियों में एक सैलाब जैसा जोश है। दिनकर, सुमन गिरिजाकुमार किसी का भी काव्य उठा लीजिए। हाथ-कंकन को आरसी की जरूरत नहीं। लेकिन स्वाधीनता के आने के बाद हिन्दी कविता का गला घुटना प्रारम्भ हुआ। वीर भावना और उत्साह के स्थान पर कुण्ठा और वेदना के स्वर फूटने लगे। स्वाधीनता की प्रत्यूष-वेला में किरणें कुछ ऐसी भटकीं कि यायावरी बन गईं। और अभिव्यक्ति? उसकी हालत यह हुई कि 'बिन उगे ही जल गई अभिव्यक्ति अपने बीज में।'

अभिव्यक्ति बीज में जली—और अनुभूतियाँ? वे सदा-सदा के लिए बन्दिनी हो गईं।

यह एक ऐसा सत्य है जिसे हिन्दी का समकालीन आलोचक नहीं कहना चाहता। या तो वह कह नहीं सकता अथवा कहने के लिए आजाद नहीं है। इसी से कवि सत्य को खून देकर भी मन को विश्रब्ध रहने को कहता है:

चुप रहो। सारे अनय अनुबंध सुधि की राह के
सत्य का सब खून देकर भी रहो विश्रब्ध मन।

क्या कारण है कि कवि ऐसी दारुण चुप्पी का आग्रह कर रहा है? क्यों मौन धारण करना चाहता है? क्यों सौन्दर्य के तथा भावोद्दीपन के समग्र आलम्बन को हट जाने के लिए, अक्रियाशील होने के लिए कह रहा है? क्यों वह प्रेरणा स्रोतों को कुण्ठित होने के लिए, प्रेरणा न देने के लिए आग्रह कर रहा है—क्या कारण है इसका? कौन सी परिस्थिति है वह जो कवि को इतना बिकर्षित कर रही है? क्यों कवि अपने को समेट लेना चाहता है? इसलिए कि वह अनुभव करता है कि उसके कथन को समझा ही नहीं गया। संग्रह की कविता 'सोचता हूँ' में कवि सहसा कह उठता है:

सोचता हूँ बेकफन मेरा मरा आशय कहीं
भूल कर कन्धा न पा जाए किसी की साँस का।

लेकिन यह स्थिति केवल अंचलजी की ही नहीं है। स्वाधीनता के बाद कांग्रेस राज में लिखी गई समस्त हिन्दी कविता की है। चाहे वह किसी नाम से लिखी गई हो। चाहे नई कविता हो। चाहे गीत हो। चाहे और कुछ। सबकी कहानी एक ही है। सबका संगीत एक है। छन्द एक है। भाव एक है—भाव का विधान एक है। एक स्वर है—एक सरगम। कांग्रेस राज में भारतीय कवि की कुण्ठित वाणी। सरस्वती कुण्ठित है। वरना क्या कारण है कि 'किरण वेला' का कवि अपने को कारावासी प्रतीत करता है:—

कितना गहन अँधेरा है, मन जैसा कारावासी
उगतीं नई-नई दीवारें, जमती नई उदासी,

और 'नई आग' का कवि अपने को 'पिंजरबद्ध' प्रतीत करता है:—

हम बहता जल पीने वाले
मर जाएँगे भूखे प्यासे
कहीं भला है कटुक निबोरी
कनक कटोरी की मैदा से।

और वह कवि जो 'रवि सा आग्नेय सर्वहारा' का गीत गाता था—कहता है :—

> बन्दी हुई है देह
> मन को बाँधने
> बढ़ते बतन के हाथ हैं (धूप के धान)

तमाम हिन्दी कविता की एक ही हालत है। लगता है, नेहरू राज में कवियों को जेल में डाल दिया गया था। यदि जेल में नहीं डाला गया था तो शायद तमाम हिन्दुस्तान ही एक जेल था। कुंठा . कुंठा . कुंठा। किसलिए कुण्ठा ? यह कवियों में अकस्मात् कहाँ से फूट पड़ी ? स्वाधीनता के पहिले क्यों नहीं आई ? स्वाधीनता के बाद ही हिन्दी साहित्य में—और अकेले हिन्दी साहित्य में ही क्यों ? समूचे भारतीय साहित्य में कहाँ से आ गई ? क्या यह सर्वव्यापक कुण्ठा सर्वथा देशकाल-निरपेक्ष है ? क्या हमारे राष्ट्रीय-सामाजिक और राजनैतिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ? और इस कुण्ठा को वे कवि गले लगाए फिर रहे हैं जो कुंठा के विरुद्ध क्रांति लेकर उपस्थित हुए थे। क्या इस कुंठा को आविर्भूत करनेवाला कांग्रेस राज का कठोर दमन नहीं है ? कितने आश्चर्य की बात है कि छायावादी कहे जाने वाले काव्य की कुण्ठा और निराशा की मीमासा करते समय तो यह कहा जाता है कि उसकी पृष्ठभूमि मे ब्रिटिश साम्राज्य का कठोर दमन रहा है लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य के दमन को भी लज्जित करनेवाले नेहरू राज्य के दमन की चर्चा भी हिन्दी के आलोचकगण नहीं करना चाहते। छायावाद की चर्चा करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने लिखा था :—

"राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे धीरे अवचेतन में जाकर पैठ रही थीं। और स्वप्नों और निराशा के इन छायाचित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।"

(डॉ॰ नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६)

और कांग्रेस राज में स्वप्नों और निराशा के समष्टिगत चित्र 'नई कविता' कहलाए।

शायद यह सवाल पैदा किया जाए कि क्या अहिंसा के पुजारी भी ऐसा दमन-चक्र चला सकते हैं कि सारी हिन्दी कविता ही क्लीब हो जाए ? इसके लिए १९४६ की सामाजिक राजनैतिक स्थिति साक्षी है। ब्रिटिश संसद की ओर से भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करने एक दल १ जनवरी ४६ को भारत पहुँचा था।

वह सत्ता हस्तांतरण का प्रारम्भ मात्र था। बिगड़ती राजनैतिक परिस्थिति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। २३ जनवरी को ही बम्बई में पी. डी. एच. के कार्यालय और मुद्रणालय पर हमला कराया गया। फिर आग लगवाई गई। प्रथम राउण्ड पूरा हुआ। कांग्रेसी सरकारें बन गईं। केन्द्र में नेहरू राज्य कायम हुआ। नेहरू राज की शुरुआत अमलनेर के मजदूरों पर गोलियाँ बरसाते हुए हुई। पश्चिमी खानदेश के मजदूर नेताओं को देश निष्कासन मिला। डहाणू और अम्बा गाँव के किसानों पर अत्याचार प्रारम्भ हुआ। प्रगतिशील लेखकों की द्वैमासिक पत्रिका 'नया साहित्य' से जमानत माँगी गई। जननाटयसंघ के प्रदर्शनों पर पाबन्दी लगा दी गई। पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट पार्टी गैरकानूनी घोषित कर दी गई। देश भर में साम्यवादियों की गिरफ्तारियाँ और जोरदार धर-पकड़ प्रारम्भ हो गई। एक सिलसिला शुरू हो गया जो पूरे पाँच साल तक चलता रहा। सन् १९५२ तक।

इस दमन और अत्याचार के बीच जो काव्य जन्मा — वह है प्रयोगवाद उर्फ नई कविता। अंचल पुराने छंद अभ्यासी हैं। अतः उनका छंद नहीं टूटा। शेष सब टूट गया। किरणबेला और लालचूनर लिखकर ही वे इस प्रतीति पर आ गए कि जो उनमें था बरस चुका। अब वर्षा का अंत है— वर्षान्त के बादल। वे विराम चिह्न भी लगाने को उद्यत हुए; लेकिन उनकी सृजनात्मक चेतना इतनी प्रखर है कि विराम चिह्न लग जाने के बाद भी निकल कर आ गई। इस संग्रह मे कवि भारतीय स्वतन्त्रता की प्रत्यूष बेला में भटकी हुई यायावरी किरण की खोज कर रहा है। इस किरण को वह 'प्रकाश की प्राण', 'अरुणामें', 'पुण्यायने सुषमे' आदि सम्बोधनों से पुकारता हुआ कहता है, तुम्हें क्यों इतनी देर लग गई। वह साफ-साफ कहता है :

> बिन बुलाए आ गया मैं
> फिर तुम्हारे द्वार पर।

कवि कहता है कि वह इसी किरण का कवि है। 'मैं तेरा कवि' शीर्षक रचना के अंतर्गत कवि अपने इस आलम्बन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसे 'संघर्षों की सौंदर्य-शिखा अविचल' 'तप की लावण्य-शिखा, आलोक घना' 'अनजन्मे निर्झर की अभिसारवती', 'अभाव में तेज दहन करने वाली' विशेषणों में उपस्थित करता है। वह तिमिर-जयी आभा से युक्त है। कवि ने इस किरण का मानवीयकरण करके उसे एक नारी और प्रेयसी रूप में उपस्थित किया है। हम नहीं कह सकते कि प्रस्तुत उपक्रम कहाँ तक कवि की अपनी मौलिक अंतर्दृष्टि का परिणाम है। सम्भव है कि कवि पर आरागाँ का भी कुछ प्रभाव हो। क्योंकि आरागाँ ने भी लगभग इसी पद्धति का विनियोग कर क्रांति को एक रोमानी नायिका का रूप दिया है।

यह आत्म संघर्ष ऐसा है जो कवि के काव्य में नए मोड़ की ओर सूचना देता है—साथ ही हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक विशिष्ट काव्य-पद्धति के आगमन का बोध कराता है। वस्तुतः यह सारा क्रम इतना आंतरिक है कि कवि इस मानसिक क्रिया की कोई बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसी से उसने एक कविता में स्वीकार किया है :—

मोड़ हैं अनजान कितने पंथ में मेरे।

प्रस्तुत संग्रह में कवि ने अपनी आस्था और विश्वास को पुनः संयोजित करने का उपक्रम किया है :—

अध्याय नया फिर जुड़ता है मेरे संघर्षों के स्वामी।

मेरी कुचली लघुता तुमको फिर टेर रही अंतर्यामी।

× × ×

इन सबके बावजूद कि कवि की भाववृत्ति में व्यापक परिवर्तन हुआ है। उसका आलम्बन बदला है। लेकिन कवि वही है। उसकी अभिव्यक्ति की प्रणाली वही है। मूर्ति बदली है—लेकिन पुजारी वही है :—

मूर्ति तो बदली,

न पर विश्वास का बदला पुजारी।

× × ×

प्रस्तुत संग्रह की भाव-पद्धति पर विचार करने पर प्रतीत होगा कि शृंगार भावना का उपयोग केवल शैली-प्रसाधन के रूप में ही किया गया है। जिस प्रकार 'लहर' में पहुँच कर प्रसाद का कवि करुणा और निर्वेद की भूमिका ग्रहण करने का उपक्रम करता है, तथापि उसके कथन की प्रणाली प्रायः शृंगारिक ही रहती है—प्रायः वही भाव स्थिति अंचलजी के इस नवीन काव्य संग्रह में दिखाई पड़ रही है। इन गीतों की भाव स्थिति का आभास निम्न पंक्तिओं में मिलता है :

इन्हें सत्य से अधिक मानना

इनमें मेरी जिजीविषा

आज भले ही कहीं न होऊँ

इनमें मेरी नई दिशा।

जीवित है इनमें मेरे

फिर से बनने की तैयारी

फिर से जागेंगी इनमें

मेरी सूखी ऋतुएँ सारी।

वस्तुतः अंचलजी का कवि अब एक ऐसी भाव भूमिका पर पहुँच गया है जिसे निर्वेद के अतिरिक्त और किसी भावना विशेष द्वारा सम्बोधित नहीं किया

का प्रकाश । यद्यपि इस निर्वेद के साथ ही पूजा की भावना भी विद्यमान है जो उसे शुष्क होने से बचा लेती है । किन्तु पूजा और करुणा की भावनाएँ पूर्ववर्ती निर्वेद के संचार में ही सहायक हैं—उनका स्वायत्त अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः स्थान-स्थान पर आत्मग्लानि का भाव भी मिल जाता है जो मन पर यह छाया छोड़ जाता है कि कवि अभी पूजा के उपक्रम में संलग्न हुआ है लेकिन अभी पूजा की विभा और ध्यान की एकाग्रता का अवतरण नहीं हुआ है :

दे दो मुझको ध्यान,
हरो ये मेरे स्वर सारे ।

वास्तविकता तो यह है कि कवि जीवन की पीड़ा और अनुभूति के दर्शन से मुक्त नहीं हो पाया है । वह घायल है । क्लांत, पीड़ित और दुःखी है । वह अभी भी इसी विकल्प में है कि उसका दर्द अपना है—अथवा यह पीड़ा लोकव्यापी है, वह छला गया है। इसी कारण उसमें 'कनफेशन' तो है लेकीन - समर्पण की ऊष्मा का आविर्भाव अभी नहीं हो पाया है :—

कब कहा मैंने कि मेरा दर्द मेरा ही नहीं है
हो गया विश्वास जो बे-पर्द मेरा ही नहीं है
कब कहा मैंने कि है मेरा छला जाना असम्भव
कब कहा मैंने समर्पण सर्द मेरा ही नहीं है ।

लेकिन आज वह अपने को बार-बार मथ रहा है । उन परिस्थितियों पर बड़ी तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कर रहा है जिनने उसे जीवन की इस बलवती प्रेरणा से दूर कर दिया था ।

प्रस्तुत संकलन के सम्बन्ध में जो बात मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ वह यह कि शृंगार के साँचे में ढली हुई कवि अंचल की इन रचनाओं को रोमानी प्रेम की रचनाएँ समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। हिन्दी में काव्य कि भाववस्तु को ग्रहण करने की उदात्त परम्परा अभी विकसित नहीं हुई है और लोगों की दृष्टि काव्य के 'वाच्य' के इर्द-गिर्द ही घूम कर रह जाती है । कवि की वाणी अभिव्यक्ति के नाना प्रकारों को ग्रहण करती है वाणी के इस परिधान को ही उसका वास्तविक स्वरूप समझना काव्य तत्व की गहराई में निवेश करने से इन्कार करना है । यह प्रणाली लम्बे अर्से से हिन्दी से प्रचलित है । तभी वह कवि जो कहता है :—

विभुता विभु सी पड़े दिखाई
दुख-सुख वाली नित्य बनी रे ।

हिन्दी पंडितों को पलायनवादी नजर आता है। जो कवयित्री कहती है :—

क्या कहते हो अंधकार ही
देव बन गया इस मंदिर का
स्वस्ति समर्पित उसे अर्घ्य
मेरे इस अंगारक उर का।
पर वह निज को देख सके
औं' देखे मेरा उज्ज्वल पूजन

अथवा—

भिक्षुक से फिर आओगे
जब लेकर यह अपना धन
करुणामय तब समझोगे
इन प्राणों का मँहगापन

हिंदी पंडितों को रहस्यवादी नजर आती है।

ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति में यदि कवि अंचल की इन कविताओं का आशय भी सही अर्थों में ग्रहण न किया जाए तो आश्चर्य न समझा जाना चाहिए।

तब फिर कवि अंचल की इन कविताओं का आलम्बन कौन है? वह आलम्बन है 'ज्योतिकिरण, शक्ति, प्रेरणा, अरुणाभे, पुण्यायने' 'सुषमे।' कवि ने उसे प्रेयसी का रूप अवश्य दिया है लेकिन वह कोई स्थूल प्रेयसी न होकर जीवन की मूलभूति शक्ति है। अतएव इस काव्य को मात्र प्रणयनिवेदन का काव्य समझना भारी भूल होगी। वह एक समग्र आत्मनिवेदन है—जो आत्मालोचन की घनीभूत वेदना से आविर्भूत हुआ है। इसीलिए कवि नारी नामक कविता में नारी से देश को नया संदेश देने का आह्वान करता है। नवग्रहों के मन्वन्तर से पृथ्वी का कल्मष हरने का प्रार्थना करता है।

वस्तुतः एक आलोकित आवेग इन कविताओं की पक्ति-पंक्ति में फूट पड़ा है—उसकी दिशा स्पष्ट है, लेकिन कवि का मानस सर्वथा संकोचमुक्त नहीं हो पाया है।

इस संग्रह में पहुँच कर कवि की नवीन भाव दिशा का बोध तो होता ही है उसके भावी मार्गान्तरण का संकेत भी मिल जाता है। पिछले २० वर्ष की हिन्दी कविता की घनीभूत कुंठा—इस संग्रह में संघटित वेग में एकत्र होकर फूट बहने के लिए आकुल हो उठी है।

भावना का एक ऊर्जित आवेग प्रायः सर्वत्र एक सा ही है। कवि भीतर ही भीतर घुमड़ रहा है और स्थूल अभिव्यक्ति में अपने को सक्षम नहीं पा रहा है। फलतः अनेक स्थानों पर भावनाओं की प्रबल पुनरावृत्ति भी मिलती है। यद्यपि इस पुनरावृत्ति में घुटन का डर अवश्य प्रतीत होता है—

यद्यपि इस क्रम में कवि की काव्य-शक्ति में काफी निखार हुआ है। महाकाव्योचित भाषा और शैली में व्यक्त निगूढ़ भाव की ये प्रखर व्यंजनाएँ—कवि की कला सामर्थ्य के प्रति यह विश्वास प्रदान करने का यथेष्ट अवसर देती हैं कि अंचलजी का कवि अभी निस्तेज और निष्प्राण नहीं हुआ है। बल्कि हमें तो इस बात का पूरा-पूरा विश्वास है कि यदि अंचलजी किसी प्रख्यात आख्यान को अपनी भाव व्यंजना का माध्यम बनाएँ तो उनकी कला अपना वास्तविक कौशल दिखाने का अवसर पा सकती है। इस संदर्भ में दो छन्द देखिए :

सो रहो जल-पंखिनी ध्रुव ज्योति लेखा स्नेह की
सो रहो जीवन विजयिनी लग्न की सीमन्तिनी।
सो रहो शुक्रास्त में डूबे गगन की वन्दना
सो रहो प्रतिस्रोत के प्रतिबिम्ब की अनुवर्तिनी।
सो रहो ओ दूर तक फैले अपार्थिव राग की
लयवती संचारिणी दीपक-शिखा अनिमेषनी।
सो रहो निर्लिप्त तृष्णा के अनिद्रित स्वप्न ओ।
सो रहो अपरूप की सौगन्ध रस आवेशिनी।

अंचलजी रूप और तृष्णा के कवि के रूप में जाने जाते है। लोगों ने एक चश्मा लगा लिया है और उसी से कवि को देखना चाहते हैं। लेकिन वे भाव-साधना में होनेवाले क्रमागत सूक्ष्म परिवर्तनों पर ध्यान देने को तत्पर नहीं होते। प्रस्तुत संग्रह में अंचलजी के कवि की भूमिका सर्वथा नवीन है। न वे रूप तृष्णावाले व्यक्तिवादी कवि है, न वे आंदोलनवाले प्रगतिवादी। उनका कवि साधना के नए सोपान की ओर अग्रसर हुआ। उन्होंने अपने निकट के देवता को पहिचाना है। वे पूजा के नए आयामों की सर्जना में क्रियाशील हो उठे हैं। हमें आशा ही नहीं, वरन् पूर्ण विश्वास है कि उनकी पूजा सिद्ध होगी। अतएव हम उनकी भावना :

तम के बिम्बजाल में उतरो ओ अरश्मि लोकान्तर
मुद्रित अंध-गर्भ में जागो ओ प्रदीप्त के सुन्दर
फूटो-फूटो काली छाया कुतियों में रूपंकर
जागो हे विश्वास विभे! तम की स्नेहाकुलता पर।

के प्रति अपनी आंतरिक शुभकामना प्रकट करते हैं।

हिन्दी साहित्य में विसर्जनवाद

दूसरे महायुद्ध के बाद संसार की परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। फासिज्म पर होनेवाली समाजवाद की एतिहासिक विजय ने विश्व की कोटि-कोटि शोषित जनता में एक अद्भुत आत्मविश्वास की भावना पैदा की है। बीसवीं सदी साम्राज्यों के विनाश की शताब्दी है। हिटलर को जीतकर भी ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा है। उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों की गुलाम जनता अपनी मुक्ति का परचम लिए इतिहास के नए अध्याय की शुरुआत कर रही है। हिन्द चीन, मलाया, श्याम, हिन्देशिया बर्मा हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, ईरान, फिलिस्तीन, सीरिया, अरब, सूडान, मिस्र, ट्यूनीशिया— सभी देशों की जुझारू और जंगजू जनता का तूफान उठ खड़ा हुआ है।

इतिहास का रथ आगे बढ़ रहा है। गुलाम देशों का साहित्य जनता की स्वाधीनता का प्रबल अस्त्र है और इसीलिए गुलाम देशों का देशभक्त लेखक अपने साहित्य के द्वारा पूरी ताकत से समय के चाक को आगे बढ़ा देना चाहता है। हिन्दुस्तान की जनता का संघर्ष इसी महान् संघर्ष की एक कड़ी है। हिन्दुस्तान का देशभक्त लेखक भी जनता की सही आजादी के लिए संघर्ष कर रहा है, न केवल लिख रहा है, बरन् अपना खून भी दे रहा है।

१५ अगस्त ४७ को हुए विदेशी साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीवाद के गँठबंधन के बाद देश की जनता की लड़ाई ने एक दूसरी करवट ली है। इस नकली आजादी का पर्दाफाश करते हुए हिन्दुस्तान के देशभक्त लेखकों ने इस लड़ाई में आगे बढ़कर जनता का साथ दिया। फलस्वरूप उन्हें कांग्रेस सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। उनके पत्रों पर बंदिशें लगाई गईं; और संपादकों को गिरफ्तार किया गया।

इस लड़ाई के दौरान गलतियों के बावजूद हमने बहुत कुछ सीखा है। हमने यह महसूस किया कि हमारी लड़ाई को अधिक मजबूत और कामयाब बनाने के लिए जनता के विविध वर्गों की भाँति ही लेखकों का भी संयुक्त-

मोर्चा जरूरी है, ताकि हम अपने हथियार का तीखे रूप से इस्तेमाल कर सकें और सामूहिक प्रयास द्वारा लड़ाई को आगे बढ़ा सकें। साहित्य में संयुक्त मोर्चे का आशय यही है कि साहित्यकार देश की जनता के इस स्वाधीनता संघर्ष में डटकर हिस्सा लें, जनता में एकता कायम करें, उसकी लड़ाई के फौरी सवालों को समझें और साहित्य में जनता के इस संघर्ष को झलकाएँ।

पिछली लड़ाई में सही है कि हमारी लड़ाई कई जगह काफी कमजोर भी हुई है। पर उसका कारण—हम अमृतराय की तरह अपने ही दूसरे साथियों पर नहीं डालना चाहते। इसका कारण है, वर्तमान सरकार द्वारा जनता, लेखकों और उनके संगठनों का बर्बर और फासिस्ती रूप से दमन किया जाना। फलस्वरूप कई जगह हमारी ताकत कमजोर पड़ी। संकट के समय ही दोस्त और दुश्मन की पहिचान होती है। सर्वहारा वर्ग की लड़ाई के इस संकटकाल में (१९ ०-५१) उन लोगों की कलई खुल गई जो इतने दिनों तक अपनी अवसरवादी प्रवृत्तियों पर गरमदल की शब्दावली का नकाब डाले हुए थे। फलतः उनका विसर्जनवादी रूप खुलकर जनता के सामने आ गया। लेनिन ने अपने युग के विसर्जनवादियों को उदारपंथी पूंजीपतियों का दलाल कहा था। सिद्धांत का विसर्जन कर अवसरवादी ढंग से काम करते हुए जनता की क्रांतिकारी शक्तियों को आगे बढ़ने से रोकना इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता है। रूसी विसर्जनवादियों ने इसी प्रकार का एक प्रयत्न किया था; कि रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के विद्यमान संगठन को तोड़ दिया जाए (उसका विसर्जन कर दिया जाए) और किसी भी मूल्य पर उसकी जगह एक कानूनी और भोंडा संगठन किया जाए, चाहे इस कार्य में पार्टी के कार्यक्रम उसकी कार्यनीति और उसकी परम्परा को ही तिलांजलि क्यों न देनी पड़े।" पर लेनिन ने इस प्रयत्न पर पेरिस में दिसम्बर १९०८ में हुई रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की पाँचवीं अखिल रूसी कांफ्रेंस में निंदा का प्रस्ताव पास करवाकर-उसे विफल कर दिया था। शिवदान सिंह चौहान द्वारा किसी भी मूल्य पर "अखिल भारतीय जनवादी लेखक संघ" के कानूनी और भोंडे संगठन की योजना इसी प्रवृत्ति का एक पहलू है, जिसके अनुसार वे प्रगतिशील लेखक-संघ को केवल मार्क्सवादी लेखकों का संगठन बनाकर संकुचित करना चाहते हैं। और उसके व्यापक ध्येय, कार्यक्रम और परम्परा का विसर्जन करना चाहते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के वर्तमान में विद्यमान व्यापक संगठन को तोड़कर (उसके व्यापक स्वरूप के साथ ही ध्येय और कार्यक्रम का विसर्जन कर) और किसी मूल्य पर एक अन्य 'अखिल भारतीय जनवादी लेखक संघ' के निर्माण की योजना उन्होंने प्रस्तुत की है। जिसका कोई कार्यक्रम और

ध्येय नहीं है। आलोचना के अधिकार का विसर्जन, ध्येय और कार्यक्रम का का विसर्जन, जनता के लिए संघर्ष की भावना का विसर्जन—यह है विसर्जनवाद की भूमिका—जिसे हिन्दी में 'आलोचना' अदा कर रही है और शिवदानसिंह अपनी लीडरशिप की भूख में अनेक पैंतरे बदल रहे हैं। उन्होंने साहित्य में पहिले ही से एक त्रात्सकीपंथी की भूमिका अदा की है। और इसलिए वे विसर्जनवादियों के सहज ही लीडर बन चुके हैं। प्रगतिशील लेखकों के प्रमुख पत्र का जनता की काफी माँग के बावजूद बंद होना और उसके संपादक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'आलोचना' के साथ (एक लेखक के नाते) बिना किसी ध्येय तथा प्रोग्राम के सम्बद्ध हो जाना—इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। शिवदान सिंह चौहान का दिल्ली मे तिकड़म करके एक गुट बनाकर 'आलोचना' निकालने का यह काम ठीक उसी प्रकार का है, जिस प्रकार त्रात्सकी ने वियना आस्ट्रिया) में लेखकों का एक गुट बनाया था और वहाँ से एक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। 'जो कहने को गुटबन्दी से परे' था परन्तु वास्तव में एक 'मेन्शेविक' पत्र ही था।' त्रात्सकी के इस व्यवहार पर लेनिन ने लिखा था—"त्रात्सकी का व्यवहार किसी निहायत गिरे हुए कमाऊ-खाऊ गुटबाज जैसा है··· ···मुँह से वह पार्टी का हिमायती बनता है लेकिन उसका व्यवहार दूसरे गुटबाजों से भी गया-बीता है।"

शिवदानसिंह के सम्बन्ध में भी इससे अधिक क्या कहा जा सकता है।

आलोचना के चार अंक हमारे सम्मुख हैं। एक लेखक के रूप में आलोचना में सबसे अधिक भाग लिया श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने। जैसा कि आलोचना की पृष्ठभूमि में कहा गया है कि वह साहित्य में विसर्जनवाद की भूमिका अदा कर ही है; उसके पहले अंक में ही उसका स्वरूप सामने आ जाता है। नरेन्द्र शर्मा का पंत पर लिखा हुआ निबन्ध इसका प्रमाण है। विसर्जनवादियों का ध्येय आज जनता की लड़ाई में दरार डालकर उसे साहित्य के उन सवालों में उलझाना है—जिनका कि उसकी लड़ाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। और जो भरे पेट लोगों की दिमागी कसरत या ऐय्याशी है। पर हिन्दी लेखक आज काफी जागरूक हो गया है; अतः विसर्जनवादी जहाँ निरी उद्धरणबाजी कर जनता के समय और देश के कागज का अपव्यय कर रहे हैं—दूसरे अपेक्षाकृत नए लेखक अपने आलोचना के अस्त्र को काफी तीखेपन से जनता की लड़ाई के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा' 'आलोचना' के प्रथम और चतुर्थ अंक में प्रकाशित हुआ। यह लेख संस्कृत

के महाकाव्यों का संक्षिप्त काव्यात्मक परिचय देता है। साथ ही निबन्ध साहित्य आलोचना का रूप अधिक लिए हुए है। निबन्ध की वैयक्तिकता से युक्त उनका निबन्ध आलोचना के तीसरे अंक में 'साहित्य की साधना' शीर्षक से छपा है। द्विवेदी जी अपने चिन्तन में निश्चय ही आगे बढ़े हैं। इस निबन्ध में उन्होंने लिखा है—' हमने मनुष्य को इसी मर्त्यलोक (सामाजिक मनुष्य को) में सुखी और समृद्ध, अज्ञान और परमुखापेक्षिता से मुक्त बनाने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है।"

'भारतीय आलोचना पद्धति' शीर्षक बाबू गुलाबरायजी का निबन्ध 'क्लास नोट्स' के ढंग का है। जैसे बाबूजी ने विद्यार्थियो को नोट्स लिखवा दिए हों। इसी विषय पर डॉ० भागीरथ मिश्र का निबन्ध आलोचना के दूसरे अंक में अधिक विश्लेषण-प्रधान है। सब मिलाकर दोनों लेख संस्कृत साहित्य में प्रचलित आलोचना पद्धतियों का परिचय मात्र कराते हैं।

प्रकाशचन्द्र अहरह रूप से लिख रहे है, गरम दल की शब्दावली का प्रयोग करने और प्रगतिशील लेख संघ मे रहने के कारण लोग उन्हें मार्क्सवादी आलोचक कहने लगे है और इसीलिए प्रकाशचन्द्रजी कुछ ऐसा 'pose' करने लगे हैं - कि जैसे वे मार्क्सवादी आलोचक ही है। पर वस्तुत: वे एक प्रभाववादी आलोचक ही है। उनकी आलोचना का क्रम कुछ इस प्रकार है। पहिले पद्यांश उद्धृत करना, तदुपरांत उसका गद्य में भाषान्तर लिखना, इसके पश्चात् एक-दो अधिकृत विद्वानों के मत उद्धृत करना और फिर उन्हीं को अपनी भाषा में लिखना। इस प्रकार उनकी शैली वही है—जो श्री विश्वम्भर मानव की। दु:ख तो तब होता है जब इस प्रकार की निम्न कोटि की विद्यार्थीनुमा आलोचना के साथ प्रगतिवाद का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। आलोचना के चार अंकों में जो उनके लेख निकले हैं—उनमें मौलिक नाम जैसी कोई चीज नहीं है। सब कुछ एक बड़ी तादाद से पहिले कहा जा चुका है। और संकलन भी इससे कहीं अच्छा श्री रामरतन भटनागर तथा अन्य नोट्स कुंजी लेखक कर चुके हैं। तुलसी के जन्म पर विद्वान् लोग खोज कर चुके हैं। गुप्तजी ने व्यर्थ ही रिसर्च की।

डॉ० सत्येन्द्र के दो लेख तीसरे तथा चतुर्थ अंक मे प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही निबन्ध पर्याप्त स्वाध्याय और अध्यवसाय से लिखे प्रतीत होते हैं तथा विवेचन और चिन्तन से पूर्ण हैं।

डॉ० भगीरथ मिश्र का दूसरा निबन्ध 'रीतिकालीन काव्य : एक दृष्टिकोण' है। डी० के० बेडेकर का निबन्ध रस सिद्धान्त का स्वरूप भी परिचयात्मक ही

है। सहज ही प्रश्न उठता है कि इस प्रकार आवृत्तिमूलक तथा परिचयात्मक निबन्धों की आज आवश्यकता कितनी है? विद्यार्थियों की माँग कौड़ियों कुञ्जियाँ, तथा पत्र-पत्रिकाओं के परीक्षोपयोगी लेख पूरी करते हैं। और न ही आलोचना के पाठक साहित्य शास्त्र से अपरिचित हैं। फिर उनके सम्मुख यह पुनरावृत्ति कैसी? इस आवृत्ति का कारण यही है कि इस वर्ग के लेखकों के पास मौलिक रूप से सोचने और विचारने की शक्ति समाप्त हो चुकी है। अपने पाठक वर्ग को देने के लिये आज उनके पास कुछ नहीं रह गया है। इसीलिए जितने भी निबन्ध लिखे गये हैं उनमे अधिकाश .आवृत्तिमूलक परिचयात्मक निबन्ध हैं; जो साहित्य शास्त्र के रीतिकालीन कवि आचार्य की रचनाओं की तरह उद्धरणी करके समाप्त हो जाते है। इस वर्ग के लेखक-जिनका कि सोचना-विचारना लगभग समाप्त हो गया है जो अपने पाठक को कुछ देने की क्षमता नही रखते, पाठक को उसी पुराने शब्दजाल मे उलझा रखना चाहते हैं।

ऐसे निबन्ध जिनमे निबन्धकारो की उलझनें उभर कर सामने आई हैं, डॉ० नगेन्द्र का 'नवनिर्माण', डॉ० देवराज का 'हिन्दी समीक्षा', एहतेशाम हुसेन का उर्दू भाषा की उत्पत्ति तथा प्रारम्भिक विकास' आदि हैं। नगेन्द्रजी लिखते है—' रस का साहित्य एक संगठित तथा आयोजित प्रयत्न नहीं है, वह व्यक्ति का आत्म साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजन है।" सारा निबन्ध इसी भूमि पर आधारित है। विस्तृत विचार प्रकट करने का अवसर फिर मिलेगा। यहाँ इस सम्बन्ध मे इतना ही निवेदन है कि आधुनिक कला के क्षेत्र में सामूहिक उत्पादन की क्रिया लागू हो चुकी है। दृश्य काव्य का आधुनिक रूपान्तर सिनेमा आपके समक्ष है, जिसे कोई भी कलाकार अपना आत्म-साक्षात्कार नहीं कह सकता, जिस प्रकार कि आधुनिक श्रमिक, उत्पाद्य वस्तु को मध्ययुगीन दस्तकार की तरह केवल अपने श्रम का प्रतिफल नहीं कह सकता। प्रतीक' मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने वाले उपन्यास 'बारहखम्भा' को नगेन्द्रजी किसका आत्मसाक्षात्कार कहेंगे? कला जो जीवन की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति है—उसके क्षेत्र मे भी श्रम-विभाजन, सामूहिक उत्पादन तथा विशेषीकरण की क्रियाएँ लागू हो रही हैं—वस्तु सत्य यही है।

नन्ददुलारे वाजपेयी के निबन्ध की समीक्षा हमें उन्हीं के शब्द उधार लेकर करना पड़ेगी। बड़े ही गम्भीर रूप से इस निबन्ध का, शीर्षक दिया गया 'भारतीय काव्यशास्त्र का नव निर्माण।' निबन्ध की शुरुआत भी की गई इसी आंशिक गम्भीरता से। पर श्री वाजपेयी जी 'भारतीय काव्यशास्त्र के नव निर्माण' पर जब विचार करने बैठे, उन्होंने जरा भी विचार करने का कष्ट नहीं किया कि उनके निबंध के वस्तुविधान का उसके शीर्षक से क्या

सम्बन्ध है ? और यह सारा वस्तुविधान क्या है, भारतीय साहित्य शास्त्र के सम्प्रदायों का परिचय मात्र। विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय देकर निबंध समाप्त कर दिया गया—यह विचारने का कष्ट लेखक ने नहीं किया कि काव्य-शास्त्र का नया निर्माण कैसे हो, उसकी रूप-रेखा क्या हो ? बाजपेयीजी को कम से कम इतना तो विचारना ही चाहिए कि मात्र आकर्षक शीर्षक से ही तो काम नहीं चलता।

डॉ० सत्येन्द्र का दूसरा निबन्ध 'हिन्दी साहित्य में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि', उनके पहले निबन्ध की तरह ही गढ़ा हुआ, अध्ययन तथा विश्लेषण से पुष्ट है। लेखक का परिश्रम स्पष्ट झलकता है। लेखक ने समग्र हिन्दी साहित्य को लोकवार्ता की पृष्ठभूमि में रखकर एक नई रोशनी में देखा है। हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास को देखना है तो इस निबन्ध के साथ नन्ददुलारे बाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त भगीरथ मिश्र आदि के निबन्धों की तुलना कीजिए तो ज्ञात हो जायगा कि कहाँ केवल पिष्टपेषण है और कहाँ मौलिक चिन्तन किया जा रहा है। इस प्रकार के निबन्ध निश्चय ही हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हैं।

डॉ० देवराज ने एक निबन्ध की आलोचना स्वयं ही अतिरिक्त टिप्पणी में कर ली है कि उनके द्वारा निबन्ध में प्रगतिवादी आलोचना अतिरंजित है। अपने निबन्ध में वे इलियट और रिचार्डस के उधार लिए हुए विचारों को भी अभिव्यक्ति देने में चूके नहीं हैं।

श्री इलाचन्द जोशी ने 'युग समस्याएँ और साहित्यकार' शीर्षक निबन्ध में मूल विषय पर बड़ी गूढ़ता से विचार किया है। उन्होंने अत्यन्त गम्भीरता से विषय से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण तथ्यों को उभारा है।

डॉ० हरदेव बाहरी का निबन्ध अत्यन्त मौलिक दृष्टि से लिखा गया है और उपयोगी सुझाओं से युक्त है। नेमिचन्द का निबन्ध उनकी मानसिक उलझन और अन्तर्विरोधों के कारण विविध असंगतियों से युक्त है। नामवर सिंह और त्रिलोचन के निबन्ध अपने विषय का पूरा समाहार न कर सकने के कारण अपेक्षित मात्रा में व्यापक नहीं बन सके हैं।

निबन्धों के अतिरिक्त इस पत्र में एक स्तम्भ, प्रस्तुत प्रश्न का भी रखा गया। इस स्तम्भ में जिस प्रश्न पर विचार किया गया—इसी पर युगान्तरकारी सम्पादक ने अपना सम्पादकीय लिखा है। विचारार्थ प्रस्तुत प्रश्नों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये प्रश्न किसने प्रस्तुत किए हैं।

सम्भवतः ये प्रश्न सम्पादक द्वारा ही प्रस्तुत किए गए हैं—और उनपर साथियों से लेख लिखवा लिए गए हैं। साहित्य और जनता के समक्ष ये ही प्रश्न प्रस्तुत क्यों हैं? इस प्रकार का प्रश्न करने का अधिकार पाठक को नहीं है, क्योंकि सम्पादक ही सर्वेसर्वा है! हो सकता है उसे खुदा ने इलहाम भेजा हो—वैसे उन्हें बुटवाजी में जो योगसिद्धि प्राप्त है उसपर किसी को अविश्वास नहीं होना चाहिए।

इस स्तम्भ में चार प्रश्नों पर विचार किया गया :

(१) साहित्य में संयुक्त मोर्चा, (२) साहित्य में प्रयोगवाद, (३) साहित्य में यथार्थवाद और (४) प्रगतिवाद साहित्य का नया दृष्टिकोण।

संयुक्त मोर्चे के प्रश्न पर चौहान के अवसरवादी तथा नेतागिरी की अतृप्ति से भरे हुए विचारों से प्रायः सभी परिचित हैं और पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं रखते। दूसरे अंक में प्रस्तुत प्रश्न है—प्रयोगवाद। यह स्वीकार करके कि भावों और विचारों को प्रक्षेपित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग तो कवि आदिकाल से करते आये हैं प्रयोगवाद को प्रतीकवाद कहना कुछ संगति नहीं रखता। साथ ही आदिकाल से चली आई उदात्त काव्य-परम्परा को शिवदान सिंह एक साथ ही अज्ञेय को क्यों सौंप देना चाहते हैं, समझ से परे है। वस्तुतः प्रयोगशीलता के नाम पर जो काव्य-सृष्टि हो रही है उसका अपना एक सैद्धांतिक धरातल है। इस भूमिका पर मैं अपने विभिन्न निबन्धों में काफी प्रकाश डाल चुका हूँ।

इस प्रश्न पर तीन अन्य लेख डॉ० रघुवंश, शमशेर बहादुर सिंह तथा गिरिजाकुमार माथुर के हैं। लेख काफी संतुलित दृष्टि से लिखे गए हैं—पर अधिकांश बहस का आधार अज्ञेय के विचार ही हैं। वस्तुतः प्रयोगशील कहलानेवाले काव्य के साथ यदि अज्ञेय का सम्बन्ध न जुड़ता—तो न यह बहस होती, न हो-हल्ला ही मचता; क्योंकि अज्ञेय के विचारों में और प्रयोगशील कवियों के विचारों में काफी पार्थक्य है। अज्ञेय के विचारों की आलोचना से जहाँ यह वितण्डावाद अधिक बढ़ रहा है—वहीं हम इस काव्यधारा का गम्भीरता से विवेचन नहीं कर पाए हैं। गिरिजाकुमार ने अपने लेख के अन्तिम पैराग्राफ में शैली को जो टर्न दिया है—वह निबन्ध की गुरुता के साथ मेल नहीं खाता।

तीसरे अंक में साहित्य में यथार्थ पर विचार किया गया है। अपने सम्पादकीय में यथार्थ के सम्बन्ध में चलते बाजारू ढंग से सुनी-सुनाई बातें

लिखकर सम्पादक ने अपना ओछापन जाहिर कर दिया। इस विभाग में दो अन्य लेख श्री देवेन्द्र सत्यार्थी और रांगेयराघव के हैं।

श्री सत्यार्थी का लेख व्यर्थ के वितंडावाद से रहित लोक-साहित्य की यथार्थवादी परम्परा का सही-सही रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। लेख काफी जानकारी से पूर्ण तथा लेखक की लोक-साहित्य से निकटता का परिचायक है। सत्यार्थीजी ने लोक साहित्य की सही व्याख्या करते हुए कहा है, "लोक साहित्य जीवन का मात्र आधार ही नहीं, उसकी शक्ति का प्रमाण तो यह है कि वह जीवन की प्रगति में कहाँ तक मानव के मन पर प्रभाव डाल सकता है।"

दूसरा लेख रांगेयराघव का है 'साहित्य में यथार्थवाद'—यह लेख अत्यंत ढीली और असम्बद्ध शैली में लिखा गया है। इसीलिए लेखक ने पृष्ठ ७२ पर ऐतिहासिक यथार्थवाद की परिभाषा की, उसके बाद पृष्ठ ७३ पर आप इतिहास की परिभाषा करने बैठते हैं। फिर कुछ पृष्ठों बाद पृष्ठ ६६ पर फिर इतिहास की परिभाषा शुरू कर दी जाती है। इस प्रकार सम्बद्धतारहित अवैज्ञानिक ढंग से लेख आगे बढ़ता है। शैली का एक नमूना देखिए— नहीं। तुलसी ने अपनी समस्त प्रतिक्रिया के बावजूद एक काम किया। उसने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध जो समानान्तर खड़ा किया उससे अनेक लागों को शक्ति मिली। दारा ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मान किया। कट्टर मुल्ला नहीं सह सके। एक दम जाट, मराठा, सिख उठ खड़े हुए।' गोया प्रतिक्रिया कोई खास काम नहीं। और प्रतिक्रिया तुलसीदास की अपनी हो। वाक्य की अस्पष्टता स्पष्ट है। और तुलसीदास ने समानान्तर क्या खड़ा किया? सम्पादकजी बताएँ? आश्चर्य है, तुलसी ने ऐसा क्या खड़ा किया, जिसका एक साथ सम्बन्ध हिन्दू-मुस्लिम एकता से था कि उसका दारा ने मान किया। और ऐक्य की बात के मान की प्रतिक्रिया कट्टर मुल्लों का न सह सकना बतलाकर लेखक चौथी क्रिया का वर्णन करता है—जाट, मराठा, सिख उठ खड़े हुए। इन चारों क्रियाओं में क्या ही सुन्दर कार्य-कारण सम्बंध स्थापित किया गया है। और वाक्यों की शैली तो ऐसी है कि जिसके सामने चन्द्रकांता संतति और भूतनाथ की शैली का गठन भी फीका लगता है। उसके बावजूद ऐसे लेखक विचारात्मक लेख लिख रहे हैं।

चौथा स्तम्भ मूल्यांकन का रखा गया। इसके अन्तर्गत लगभग ५४-५५ पुस्तकों की संक्षिप्त आलोचना चारों अंकों में मिलाकर की गई। यह एक प्रकार के पुस्तक-परिचय का ही स्तम्भ है। उल्लेखनीय आलोचनाएँ बहुत कम हैं; कुछ

जो अत्यन्त चालू ढंग पर हैं तथा अनधिकृत व्यक्तियों से लिखाई जाने के कारण अत्यन्त नीचे स्तर की हैं। 'रक्त के बीज' की जो आलोचना हुई उसके सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ गुप्त का पत्र आलोचना के पाठक पढ़ ही चुके हैं। इसी प्रकार की हीन कोटि की आलोचना महावीर अधिकारी की, श्री वृन्दावन लाल वर्मा की सुन्दरतम कृति 'मृगनयनी' पर है। कुछ आलोचनाएँ बाढ़ टेस्ट से लिखाई गई प्रतीत होती हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी जी के 'आधुनिक साहित्य' की आलोचना उनके प्रिय शिष्य श्री विश्वम्भर मल्ल से लिखाई गई है। इसीलिए सारी आलोचना वाजपेयी जी की अतिरंजित प्रशंसा का उदाहरण बन गई है। यहाँ वाजपेयी जी की कृति हमारा आलोच्य विषय नहीं, अन्यथा उसकी असंगतियों तथा अनेक विषयों पर अनधिकृत रूप से लिखी हुई पेशेवर आलोचनाओं को स्पष्ट किया जाता।

जो कुछ आलोचनाएँ अच्छी बन पड़ी हैं, उनमें सर्वश्री नामवर सिंह नरेश मेहता, गोपाल कृष्ण कौल, डॉ० सत्येन्द्र. डॉ० देवराज और देवराज उपाध्याय द्वारा लिखी गई आलोचनाएँ हैं। नामवर सिंह की आलोचना की यह विशेषता है कि उसे उन्होंने व्यक्तिगत स्पर्श और मधुर चुटकियों के द्वारा रोचकता, सरलता और रस से सिक्त कर दिया है। तीव्र आलोचना होते हुए भी उसे बिल्कुल मधुर रूप से रखा गया है—वह स्पृहणीय है। कटुता की छाया उस पर कहीं नहीं है। नरेश मेहता ने भी 'अर्चना' की आलोचना काफी वैज्ञानिक ढंग से लिखी है। कौल, डॉ० सत्येन्द्र और देवराज उपाध्याय की आलोचनाएँ काफी सुन्दर बन पड़ी हैं।

इन स्तम्भों के अतिरिक्त एक स्तम्भ और रखा गया—जो दो अंक तक कोई उल्लेखनीय सामग्री न देकर समाप्त हो गया।

आलोचना के चौथे अंक में शिवदान सिंह ने डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना के बहाने भारत के जन-आन्दोलन तथा विश्व के शांति आन्दोलन पर अत्यन्त हल्के ढंग से कीचड़ उछाली है। आलोचना के लिए आलोचना का यह ढंग देखिए। युगान्तरकारी आलोचक महान् विद्वान श्री शिवदान सिंह चौहान डॉ० रामविलास के एक निबन्ध की आलोचना कर रहे हैं—"इसी प्रकार के और भी सूत्र इस लेख में हैं। जिनके लम्बे-लम्बे भाष्य करके लेखक ने आदेशात्मक शैली में प्रगतिशील लेखकों के कर्तव्य गिनाए हैं। "प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता, शांति और जनतन्त्र का साहित्य है।"...'प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता है।" आदि स्थापनाओं से स्पष्ट है कि लेखक ने प्रगतिशील साहित्य

का अर्थ अपनी नई परिभाषा में संकुचित करके उसे हमारे देश-काल की विशिष्ट सामयिक परिस्थितियों से ही नहीं, बल्कि एक विशेष राजनीति, पार्टी और प्रोग्राम के साथ बांध दिया है।

पर इस विद्वान लेखक ने यह बतलाने का कष्ट नहीं किया कि स्वाधीनता-शांति और जनतंत्र की भावना किस राजनैतिक पार्टी का प्रोग्राम है। और कौन सी ऐसी राजनैतिक पार्टी है, जो स्वाधीनता, शांति और जनतंत्र में विश्वास नहीं रखती। स्वाधीनता, शांति और जनतंत्र की प्राप्ति का महान् सिद्धान्त किसी एक राजनैतिक पार्टी का प्रोग्राम नहीं—वरन् विश्व मानवता का सबसे बड़ा लक्ष्य है। अमरीकी जंगबाजों की तरह यदि शिवदान सिंह भी अज्ञेय के स्वर में स्वर मिलाकर विश्व के शांति आन्दोलन को कम्युनिष्ट पार्टी का प्रोग्राम कहना चाहें तो कहें। यह उनके लिए नया नहीं है। उनके मार्क्सवादी पंथी रूप से सब परिचित हैं।

नए नारे देने में चौहान सबसे आगे रहते है। साहित्य की परख तक वे आलोचना के समाज शास्त्रीय रूप के पक्ष में थे और खुद को एक समाज शास्त्रीय आलोचक मानते थे। चौथे अंक में उन्होंने नारा दिया है, "समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने में असमर्थ रहा है।" और 'मानसिक सौंदर्य शास्त्र का दृष्टिकोण समाज शास्त्रीय नहीं वरन् ऐतिहासिक भौतिकवादी है।"

एक समय उन्होंने मार्क्सवाद और फ्रायडियन मनोविज्ञान को मिलाने का नारा दिया था। एक समय प्रगतिवाद को साहित्य की समाजवादी यथार्थवादी धारा कहा था। अस्तित्व-रक्षा के लिए नए नारे ईजाद कर लोगों में मुगालता पैदा करने की उनकी प्रवृत्ति जागरूक साहित्यकारों के सम्मुख नई वस्तु नही है।

साहित्य के लिए उदात्त और गम्भीर साधना के साथ ही जनता और उसके सवालों को समझना आवश्यक है। शान्ति आन्दोलन को राजनैतिक पार्टी का प्रोग्राम कहकर बदनाम करने से जनता का रथ रुकता नहीं है। देश की इन्कलाबी ताकतें आगे बढ़ रही हैं; और उनका ऐतिहासिक संघर्ष शुरू हो गया है

मुद्रक :—अजय प्रिन्टर्स, कज्जाकपुरा, वाराणसी।